

आम्
शतश्लोकी
(श्रीशंकराचार्य)

भाषान्तरकार तथा व्याख्याकार—
पं० रामावतार विद्याभास्कर

प्रकाशक—
पं० कृष्णकुमार शर्मा
पो. रत्नगढ़, जि. विजनैर

मुख्य पुस्तकविक्रेता—
विद्याभास्कर बुकडिपो,
चौक, वनारस

हिन्दी भवन,
अनारकली, लाहौर

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास,
सैद मिठा बाजार, लाहौर

मुद्रक—देवचन्द्र विशारद, हिन्दी-भवन प्रेस, हॉस्पिटल रोड, लाहौर

ओम् विनय

हे अच्युत ! हे अनन्त ! अपने वालकपन में—अपनी मुग्धावस्था के दिनों में—गणित के प्रश्नों का हासिल जब निकल आता था, तब वह चाव से अपने अध्यापक को उसे दिखाकर अपने को धन्य समझता था । परन्तु हे अच्युत ! हे अनन्त ! मुग्धावस्था के सुख के वे दिन फिर लौटकर नहीं आये । जब से होश सँभाला है तभी से देख रहा हूँ कि अब मेरे किसी भी काम का हासिल मेरे हाथ नहीं लग रहा है । मैं यों ही औरों को देख देखकर कुछ भी करता जा रहा हूँ । इतना ही नहीं, मैंने अनादिकाल से अब तक के सब कामों पर विहंगमदृष्टि डाल कर देखा है कि उन सबका भी कुछ हासिल मेरे पास नहीं है । मैं कोरा का कोरा ही हूँ । हे अच्युत ! हे अनन्त ! फिर अपने सच्चे अध्यापक आपके पास कौनसा हासिल लेकर उमंग के साथ दौड़ता आऊँ ? तुम्हें अपनी कमाई में से क्या दिखा दूँ ? हे अच्युत ! क्या मैं यों ही रपटाने वाली भूमि में दौड़ना चाहने वाले अन्धों की तरह निष्प्रयोजन ही यह सब—जो कुछ कि करता जा रहा हूँ करता ही चला जाऊँ और क्या यों ही बार बार विफलमनोरथ होता रहूँ ? क्या इन अनन्त कष्टों से कमायी हुई विषयाहुतियों को यों ही राख में मिलाता जाऊँ और विवेकशून्य कहलाऊँ ? इस प्रातिशून्य (वेहासिल) कार्य-जाल को कब तक फैलाता जाऊँ ? हे अच्युत ! अनन्त जन्मों से चली आने वाली दृस अपनी दयनीय परिस्थिति से आज तो मैं कॉप उठा हूँ । वाँझ आशाओं से, वाँझ कमों से और वाँझ ज्ञानों से मैं उकता गया हूँ । मैं अपनी डेढ़ चावल की खिचड़ी अलग पकाता पकाता ऊब गया हूँ ।

अपने इन घिनौने देहों से, इन क्षुद्र संकल्प विकल्पों से, आशाओं के इन निरर्थक पसारों से, इस फलशून्य कार्यजाल को चालू रखने से और इन निस्तेज ज्ञानों से, मुझे वही ही धृणा होगयी है। इसलिये पूरा पूरा अगतिक होकर, आप से एक विनय करता हूँ कि अब अनन्यवारण मुझको अपने अन्दर आने की अनुमति दे दीजिये। हे अन्युत ! हे अनन्त ! आपको न दीखने देने वाली—आप से मुझको अलग कर रखने वाली—जो 'मैं' की मैली ओढ़नी मैंने बुधा ही ओढ़ रखी है, कृपा करके अपने सांख्य-योग नाम के हाथ से, उसे मेरे ऊपर से उतार कर फाड़ दालिये और जो मैं अनादिकाल से एक नहीं, दो नहीं, ऊपर तले पाँच वेष्टनों में लिपटकर—सुकड़कर—धुटकर—दुःखों की मार से मुरझाकर—दुबककर—सबसे पीछे जा बैठा हूँ, व्यापक हो जाने पर जो एक ठण्डा सौंत आया करता है, उसे अपने ही समान मुझे भी ले लेने दीजिये और बस...। ओम्

ओम्

प्राक्षिथन

न तं विदाथ य इमा जजान अन्यद् युष्माकमन्तरं वभूव ।

नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप्य उक्थशासश्वरन्ति ॥ वेद

जिस तत्त्व ने इस पसारे को फैलाया है, उसको तुम लोग नहीं पहचानते हो । क्योंकि उसमें और तुममें अब बहुत खड़ा अन्तर पड़ गया है । अज्ञानान्धकार से ढक जाने के कारण तुम लोग निरर्थक वातों में फँसकर केवल प्राणों की—केवल शरीर की—परिचर्या कर रहे हो और वक्तादी होकर भटकते फिर रहे हो । यदि इस अज्ञान के परदे को हटा सको तो तुम्हारा उसका यह अन्तर हट सकता है । तुम दोनों फिर एक के एक हो सकते हो ।

यह आत्मा सत्य, ज्ञान और आनन्दस्वरूप है । परन्तु बीच में शरीर इन्द्रिय और मन के आ खड़ा होने के कारण, इन तीनों रूपों के स्थान में, इन तीनों रूपों को पाने की इच्छायें शेष रह गयी हैं । असली स्वरूप भुला डाला गया है ।

आत्मा परिणामशून्य सदा सत्य पदार्थ है । ये शरीर आदि तो परिणामविरस हैं ही । क्योंकि हम शरीरों को आत्मा समझ बैठे हैं इस कारण मिथ्या आत्मा समझ लिये हुए इन शरीरोंको मरने देना—या नष्ट होने देना—अब हमको नहीं भाता । अपने भूले हुए नित्य आत्मा की तरह हम इन शरीरों को ही अमर रखना चाहते हैं । दुःख से—दूट फूट से—अछूता रखना चाहते हैं । जैसे प्रेमी की अनुपस्थिति में प्रेमी के स्मृतिचिह्न को ही प्रेमी की तरह प्यार किया जाता हो, यों आत्मा के सत्यस्वरूप के स्थान में शरीरों को—आत्मा समझ लिये हुए

शरीरों को—सत्य वनाये रखने की इच्छा रह गयी है। एक भूल से दूसरी भूल पैदा हो गयी है। गण्डमाला पर फोड़ा निकल आया है।

आत्मा व्यापक और अखण्डज्ञानरूप है। मन या बुद्धिवृत्तियों के उत्पन्न हो जाने के कारण हमारा ही व्यापक ज्ञानरूप, हमारी ही दृष्टि से ओक्षल हो गया है। समुद्र की लहर ने उठकर सारा ज्ञान अपनी ओर खेंच लिया है। समुद्र को भुलवा दिया है। अब तो हम इन बुद्धिवृत्तियों को ही अपना रूप मानकर, व्यापक ज्ञान को उकोड़ बैठे हैं। बार बार उत्पन्न होने वाली ये बुद्धिवृत्तियाँ, फिर फिर उत्तर व्यापक ज्ञान का और हमारा ऐक्य कराना चाहती हैं। हम में और व्यापकज्ञान में सुलह कराना चाहती हैं। परन्तु वीच में इन्द्रियों के आ खदा होने से, बुद्धिवृत्तियों की, ज्ञान को एक कराने की, यह गँगा मांग, हमारी मन्द समझ में नहीं आती और हम इन्द्रियों के दिखाये हुए पदार्थों को दिखाना ही उनका एकमात्र काम समझ बैठे हैं। ‘इन्द्रियों को सर्वथा अलग रखकर केवल बुद्धि भी कोई काम कर सकती है’ यह ज्ञान हमें अब नहीं रह गया है। परन्तु इससे क्या? बुद्धि की मूल इच्छा तो उस व्यापक ज्ञान के साथ अनन्यता (ऐक्य) करा देने की ही है। यों व्यापक ज्ञान की जगह व्यापकज्ञानरूप हो जाने की इच्छा रह गयी है।

इसी प्रकार आत्मा आनन्दस्वरूप है परन्तु विषयों की प्राप्ति के तुरन्त बाद अन्तर्मुख हो गये हुए मन में, स्वच्छ जल में चन्द्रमा के प्रतिविम्ब की तरह, जो आत्मानन्द का आभास पढ़ जाता है, कभी उत्पन्न और कभी नष्ट हो जाने वाले उस आभास को ही आनन्द समझ बैठने से, अब मुख्यानन्द को—निर्विषय आनन्द को—भूलकर उसकी जगह, उसकी इच्छा ही शेष रह गयी है। क्योंकि हमारा मन उस आनन्द को कभी ग्रहण करता है कभी नहीं, मन की इसी निर्वलता के

कारण आनन्द ही उत्सव और विनष्ट होनेवाला तत्त्व मालूम होने लग पड़ा है। जैसे कि आँख के छोटा होने से कभी सूरज को देखने और कभी न देखने के कारण, सूरज को ही छिपता उगता मान लिया गया हो।

जगत् को पसारने वाले तत्त्व में और हम में येदी तीन बड़े अन्तर पड़ गये हैं। वह तो सच्चिदानन्दस्वरूप है, हम इस रूप को भूलकर सच्चिदानन्दस्वरूप की इच्छा वाले हो गये हैं। कस्तूरी मृग कस्तूरी की तलाश में भटक रहा है। हमारे इस अशान की इच्छा बन गयी है। त्रिपादस्यामृतं दिवि वह तो अब भी अपने उसी सच्चिदानन्दरूप में समाधि लगाये बैठा है। उसकी सत्तामात्र से—चुम्बक की सत्तामात्र से लोहों में गति की तरह—यह सब कुछ होता जा रहा है। इस रूप को न पहचानने के कारण हम लोग मोघाशा मोघकर्माणो मोघ-ज्ञाना विचेतसः निरर्थक आशाओं और निरर्थक ब्रह्मेणों में फँसकर दुश्मित्त हो बैठे हैं। इस दुश्मित्तता को हटाने के लिये—उस तत्त्व से हमें पृथक कर लेने वाली इस इच्छा पर शत्यक्रिया करने के लिये—उस सच्चिदानन्दस्वरूप को फिर प्राप्त कर लेने के लिये—कौन कौन उपाय करने चाहिये? इन उपायों को करते समय किस प्रकार के विचारों में रमते रहना चाहिये? इस मार्ग के विनांकों को कैसे पार करना चाहिये? मन की पकड़ से कैसे छुटना चाहिये? अपनी असंगता को कैसे जगाना चाहिये? ईश्वरतत्त्व को ढक लेने वाले इस जगत् को ईश्वरतत्त्व से कैसे ढक डालना चाहिये? जीवन्मुक्ति कैसे प्राप्त करनी चाहिये? अविद्या कब मरती है? निरपेक्षपूर्णतत्त्व कौन है? कैसा है? उसको पाये बिना हमें शान्ति क्यों नहीं मिलेगी? निर्व्याज आनन्द कैसे आयगा? इत्यादि वेदान्त के गूढ़तम विषयों को ग्रन्थकार श्री आद्य शंकराचार्यजी ने इतने सरल ढंग से समझाया है कि यह विषय सबका जाना बूझा सा मालूम होने लग पड़ता है।

इस ग्रन्थ के संस्कृतटीकाकार आनन्दगिरि हैं। उनकी टीका से हमने बहुत बड़ी सहायता ली है। उपनिषदों के ही नहीं वेदों के भी अच्यात्मप्रकरण से इसमें बहुत कुछ संग्रह किया गया है यह दिखाने का भी प्रयत्न किया है। अपनी ओर से ग्रन्थकार के भाव तक पहुँचने की—उनके साथ शामिल वाजा वजाने की—शक्तिभर कोशिश की है। इस ग्रन्थ का भापान्तर करते हुए हमें यत्परो नास्ति आनन्द आया है।

मूलश्लोकों से अधिक जितनी व्याख्या की है वह सब कोष्ठकों में बन्द करदी है। जो केवल श्लोकार्थ ही देखना चाहें वे कोष्ठकों को छोड़कर पढ़ते जायें।

इसके प्रूफ-संशोधन में बन्धुवर रमेशराजी शास्त्री तथा श्रीदेवनन्दजी विशारद ने जो सहायता दी है उनका अद्वान हम पर है। एक दो कठिन प्रश्नों को समझाने में महाविद्यालय ज्वालापुर के मुख्याध्यापक श्री पं० हरिदत्तजी ने जो सहायता की है वह भी भूलनेवाली बस्तु नहीं है।

लेखन-स्थान—

श्रद्धेय

श्री अच्युतमुनिजी का
चलता-फिरता आश्रम, गंगा-तीर,

निवेदक—

रामावतार

ओम्

शतलौकी

—०००—

(तीर्त्ते भुवर्ते में सद्गुरु जैसी दूसरी वस्तु नहीं है)

दृष्टान्तो नैव दृष्टि भुवनजठेरे सद्गुरो ज्ञानदातुः
स्पर्शश्वेत्तत्र कल्प्यः स नयति यद्हो स्वर्णतामश्मसारम् ।
न स्पर्शत्वं, तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपम स्तेन वाऽलौकिकोपि ॥१॥

इस त्रिलोकी में ज्ञानदाता सद्गुरु का कोई भी दृष्टान्त देखा नहीं गया । यदि स्पर्शमणि (पारस पत्थर) को सद्गुरु का दृष्टान्त बताया जाय तो वह भी ठीक नहीं उत्तरता । वह स्पर्शमणि यद्यपि लोहे का स्वर्ण तो वना देती है परन्तु उसको अपने अपने समान स्पर्शमणि कदापि नहीं बना सकती । सद्गुरुओं की महिमा तो देखो ! कि वे तो अपने चरणों की शरण में आये हुए शिष्यों को अपने समान ही करके छोड़ते हैं । यही कारण है कि (इन समस्त देवादि लोकों में तथा इनकी नानाविध विचित्र वस्तुओं में) सद्गुरु का एक भी उपमान नहीं है । वह सद्गुरु तो एक अलौकिक ही तत्व है । 'लौकिकोपि' इस दूसरे पाठ में अर्थ—अक्षरविद्वा सिखाने वाले लौकिक गुरुओं का भी कोई उपमान नहीं हो सकता तो फिर सद्गुरु के निरुपम होने में सन्देह ही क्या है ?

(आचार्य की महिमा)

यद्वच्छ्रीखण्डवृक्षप्रसृतपरिमलेनाभितो इन्येपि वृक्षाः
शश्वत्सौगन्ध्यभाजोऽप्यतनुतनुभृतां तापमुन्मीलयन्ति ।

आचार्याल्लङ्घवोधा अपि विधिवशतः सन्निधौ संस्थितानां
त्रेधा तापं च पापं सकरुणहृदयाः स्वोक्तिभिः क्षालयन्ति ॥२॥

जिस प्रकार श्रीखण्ड (मुख्यचन्दन) वृक्ष के फैले हुए सुगन्ध से चारों ओर के अन्य वृक्ष भी निरन्तर सुगन्धित हो जाते हैं और वे भी सब प्राणियों के ताप को नष्ट किया करते हैं इसी प्रकार जब ब्रह्मविद्या के आचार्य से बोध की प्राप्ति हो जाती है तो वे लोग अपने पास वैठने वाले लोगों के तीनों प्रकार (आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक) के तापों तथा तीनों प्रकार (कायिक वाचिक मानस) के पापों को (उनके अधिकार के अनुरूप उन्हें कर्म उपासना किंवा ज्ञान का) उपदेश देकर नष्ट कर देते हैं ।

(ब्रह्म की एकता का अनुभव जब होगा तो प्रपञ्च अपने आप ही मिथ्या भासने लगेगा)

आत्मानात्मप्रतीतिः प्रथममभिहिता सत्यमिथ्यात्वयोगाद्-
द्वेधा ब्रह्मप्रतीति निंगमनिगदिता स्वानुभूत्योपपत्या ।
आद्या देहानुवन्धाद्वति तदपरा सा च सर्वात्मकत्वा-
दादौ ब्रह्माहमस्मीत्यनुभव उदिते खलिदं ब्रह्म पश्चात् ॥३॥

क्योंकि (आत्मा के) सत्यभाव और (देहादि के) मिथ्याभाव का परस्पर योग हो गया है (आत्मा का तो संसर्गात्म्यास हो गया है तथा अनात्मा स्वरूप से ही अध्यस्त हो गया है । अब तो ये परस्पर इतने हिल मिल गये हैं कि साधारण प्राणी को इनका भेद भी प्रतीत होना बन्द हो चुका है) इसलिये (नवीन साधकों को) सबसे प्रथम आत्मा और अनात्मा की प्रतीति (पहचान=विवेक) कर लेनी चाहिये (ऐसा जब वे कर चुकेंगे तभी वे ब्रह्मप्रतीति के सब्दे अधिकारी हो सकेंगे । जिन्हें आत्मा और अनात्मा का परिशान ही नहीं है वे तो ब्रह्म को कदापि न जान सकेंगे । आत्मा और अनात्मा की प्रतीति कर चुकने के बाद तो ब्रह्मप्रतीति स्वय-

मेव होने लग पड़ती है) वेदान्तों में वर्णित वह ब्रह्मप्रतीति दो तरह से होती है—एक स्वानुभूति से दूसरी उपपत्ति (युक्ति) के सहारे से हो जाती है । स्वानुभूति से होने वाली पहली ब्रह्मप्रतीति में शरीर का (कुछ न कुछ) सम्बन्ध बना रहता है (जब तक शरीर में अध्यास बना हुआ है तभी तक ऐसी ब्रह्मप्रतीति नये-नये साधकों को हुआ करती है) उपपत्ति के सहारे से होने वाली दूसरी ब्रह्मप्रतीति तो तब होती है जब कि (साधक को) सर्वात्मकता का महालाभ हो जाता है । (साधन की प्रथमावस्था में) जब कि 'मैं ब्रह्मतत्त्व हूँ' ऐसा अनुभव (साधक के हृदय में) उदित हो चुकता है तो फिर उसके पश्चात् ऐसा दिव्य अनुभव होने लग पड़ता है कि यह सब ही कुछ ब्रह्मतत्त्व है (मैं ब्रह्म हूँ इस प्रतीति के प्रभाव से जब शरीराव्यास मिटता है तो फिर पीछे से उस साधक को 'मैं' कहने में भी भार लगता है । फिर तो उसे सदा यही ज्ञान होने लग पड़ता है कि यह सब ही ब्रह्म है । फिर वह व्यापक ब्रह्म से अपने को अलग करने का ब्रह्मद्वेष कभी नहीं करता । ये सब साधन की श्रेणियाँ हैं जो इस मार्ग के यात्री नहीं हैं यह सब उनकी समझ में नहीं आ सकेगा) इस ग्रन्थ में अन्त तक इन दोनों प्रकार की ब्रह्मप्रतीतियों का ही निरूपण किया गया है ।

(अविवेकी लोगों को जब आत्मा के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता तो वे भूल से इन अनित्य देहादि को ही आत्मा मान बैठते हैं यद्यपि उन्हें यह मालूम भी रहता है कि यह देह तो हाड़ मांस का पुतला है)

आत्मा चिद्रित्सुखात्माऽनुभवपरिचितः सर्वदेहादियन्ता
सत्येवं मूढबुद्धि र्भजति ननु जनोऽनित्यदेहात्मबुद्धिम् ।
वाह्योऽस्थिस्नायुमज्ञापलरुधिरवसाचर्ममेदोयुगन्त-
विष्मूत्रश्लेष्मपूर्णं स्वपरबुरहो संविदित्वापि भूयः ॥४॥

आत्मा सत्त्वरूप ज्ञानरूप तथा आनन्दस्वरूप है केवल उपनिषद्वाक्य ही नहीं अनुभव (किंवा निरन्तराभ्यास) भी इस बात का अनुमोदन कर देता है। वही आत्मा इन सब देहादि (देह इन्द्रिय तथा प्राणी) को नियम में चला रहा है, वह सब कुछ होने पर भी इस संसार के बहिर्मुख पामर प्राणी (सकल जगत् के भासक उस आत्मदेव को भूल कर) इस अनित्य देह में ही आत्मबुद्धि कर बैठते (किंवा इस देह को ही आत्मा मान बैठते) हैं। देखो तो सही कि यह देह हमियों का एक ढांचा है, स्वायुओं से बाँधा जाकर सज्जा किया गया है, आवश्यकता के अनुसार मजा, मांस, रुधिर, वसा तथा मेद से इसका लेपन किया गया है, चमड़े से इसे मंड दिया गया है, अन्दर (यदि इसे चीर फाड़कर देखो तो) विषा, मूत्र तथा कफ से भग छुवा पाओगे। अपने और पराये शरीरों को इस प्रकार जुगुप्सित देखते और जानते हुए भी ये मूर्ख लोग फिर फिर देहात्मबुद्धि कर ही बैठते हैं (हम नहीं समझते कि धृणित पदार्थों के समूह इस देह को आत्मा मान लेने का उन्हें क्या आधार मिल गया है ?)

(मूर्ख लोग उस जीवनाधार को भूलकर हा शोक ! कि

मांसमीमांसा में ही फँसे रह जाते हैं)

देहस्त्रीपुत्रमित्रानुचरहयवृपास्तोपहेतो र्ममेत्थं,
सर्वे स्वायुर्नयन्ति प्रथितमलममी मांसमीमांसयेह ।
एते जीवन्ति येन व्यवहृतिपट्चो येन सौभाग्यभाज-
स्तं प्राणाधीश मन्तर्गत ममृतममुं नैव मीमांसयन्ति ॥५॥

(संसार में यह कैसी अन्धपरम्परा चल पड़ी है कि संसार का कोई भी प्राणी परमार्थ का विचार तक नहीं करता) भ्रान्त लोग समझते हैं कि यह अपना देह तथा स्त्री पुत्र मित्र भूत्य घोड़े बैल आदि ही हमारे सुख के साधन हैं। अपने सन्तोष के लिये हमें इन्हीं का उपार्जन करते रहना

चाहिये । ऐसे ही भ्रामक विचारों में पड़कर ये सब प्राणी अपने इस प्रसिद्ध मनुष्य जीवन को मांसमीमांसा करते करते ही व्यतीत कर देते हैं । दिन रात इनके भरण पोषण तथा रक्षादि के दृढ़ मोह में फँसे हुए अपने जीवन को समाप्त कर लेते हैं । सुन्दर देह हो, घर में अच्छी भार्या हो, गुणी पुत्र प्राप्त हो जायँ, विनोदकुशल लोगों से मित्रता हो, अश्वशाला में द्रुतगामी घोड़े वैधे हों, थान पर भारवाही सुन्दर बैल सुशोभित हो रहे हों, उनकी टाटे में बस यही मनुष्यजीवन की कृतकृत्यता है । ऐसे पुरुष को देखकर लोग कहते हैं कि यह वड़ा भाग्यशाली मनुष्य है । परन्तु ये देह, ली आदि सब के सब जिस आत्मा के सहारे से जीवन पा रहे हैं, जिसके अनुग्रह से चलने फिरनेल्पी व्यवहार में समर्थ हो रहे हैं, जिसकी कृपा से ही सौभाग्यशाली बने वैठे हैं, अन्दर रहने वाले उस प्राणाधीश अमृततत्त्व का विचार ये पामर प्राणी हाय ! हाय ! कभी भी नहीं करते ।

(अपने बनाये घोंसलों के साथ पक्षियों की तरह यह जीव
अपने कर्मों से बनाये हुए देह के साथ रहने का ही
आदी हो जाता है)

कथित्कीटः कथंचि त्पुमतिरभितः कण्टकानां कुटीरं,
कुर्वस्तेनैव साकं व्यवहृतिविधये चेष्टते यावदायुः ।
तद्वज्जीवोपि नानाचरितसमुदितैः कर्मभिःस्थूलदेहं,
निर्मायात्रैव तिष्ठन्ननुदिनममुना साकमन्येति भूमौ ॥६॥

जैसे कोई बुद्धिमान कीड़ा (पक्षी) किसी युक्ति से कांटों किंवा तुनकों का एक कुटीर (पेड़ों पर लटकनेवाला घोंसला) बनाकर, अपने समूर्ण जीवन भर उसी के साथ व्यवहार करता रहता है, वैसे ही यह जीव भी (संचित क्रियमाण आदि) अनेक प्रकार के चरित से उत्पन्न हुए प्रारब्धकर्मों की सहायता से इस स्थूलदेह को उत्पन्न करके (उसी में

अहंभाव से बैठ कर) प्रतिदिन उन देह के नाम ही इन प्रभियों पर विचरता रहता है ।

(व्याघ्र आदि द्वा वेष धारण करनेवाले नट जैसे व्याघ्र आदि
नहीं हो जाते इनी प्रकार देह को धारण कर लेने पर भी
यह जीव वह ही रहता है)

स्त्रीकुर्वन् व्याघ्रवेशं स्वजठरभृतये भीपयन् यश्च पुण्डा-
न्मत्वा व्याघ्रोहमित्यं स नरपशुमुखान् वाथने किंतु सत्पान् ।
मत्वा स्त्रीवेषधारी स्त्र्यहमिति कुरुते किं नटो भर्तुरिच्छां,
तद्वच्छारीर आत्मा पृथगनुभवतो देहतो चत्स साक्षी ॥७॥

(हमें इस देह के अनुरूप चेष्टायें नहीं करना चाहिये । देखो !)
तनादा दिलाकर अपने वेद को पालने के लिए जिन द्वा वेष वनाकर
वालकों को डराता हुआ भी जायादी वरा कर्मी 'मैं योर हूँ' ऐसा मान
कर मनुष्य और पशुओं को वयार्थ ही मानने लगा पड़ता है (वह तो
अपने व्याघ्रवेष को कृत्रिम समरकर चुपचार रहता है और व्याघ्रवेष
के अनुरूप हिंसादि करने पर कर्मी उत्ताल नहीं होता) इनी प्रकार नीं
का वेष धारण करने वाला नट 'मैं लौ हूँ' यह समरकर क्या कर्मी भत्ता
की इच्छा करने लगता है (वह लौवेष के अनुरूप हावभावों से अन्य
पुरुषों को मुग्ध तो करता है परन्तु अपने को नहीं नीं मान कर पति के
संयोग की इच्छा कर्मी नहीं करता) अनुभव से सिद्ध होता है कि टीक
इसी प्रकार इस शरीर में रहनेवाला वह आत्मा भी इन देह ते तर्बया
भिन्न है, क्योंकि वह तो इस देह का साक्षी है (उसे तो सदा अपने
त्वरूप में ही स्थित हुए रहना चाहिये)

(वालक को समझाने के लिए जैसे अनेक उपाय किये जाते हैं इसी तरह
उपनिषदों ने अनेक रीतियों से आत्मतत्व को समझाया है)

स्वं वालं रोदमानं चिरतरसमयं शान्तिमानेतु मग्ने,
द्राक्षं खार्जूरमास्रं सुकदलमथवा योजयत्यम्बिकास्य ।
तद्वचेतोऽतिमूढं वहुजननभवा न्मौद्यसंस्कारयोगा-
द्वोधोपायै रनेकैरवश मुपनिषद्वोधयामास सम्यक् ॥८॥

चिरकाल तक रोते हुए अपने वालक को शान्त करने के लिये उसकी माता उसके सामने अंगूर, खजूर, आम या केला रख देती है । (वह समझती है कि इन में से किसी न किसी फल को पसन्द करके तो वह शान्त हो ही जायगा) इसी प्रकार माता के सहशा उपनिषदें अनेक जन्मों में उत्पन्न हुए मूर्खता के संस्कारों से अत्यन्त मूढ़ बने हुए (किंवा अज्ञान से दबे हुए) इस अवश अर्थात् चंचल चित्त को, बोध कराने वाले अनेक उपायों से समझाती हैं । (उनका अभिप्राय है कि आत्मज्ञान के बहुत से उपाय बता दिये जायं उनमें से अधिकार के अनुरूप किसी को कोई तो पसन्द आ ही जायगा । और वह उसी से कृतकृत्यता को प्राप्त कर लेगा)

(आत्मा ही प्रिय है दूसरे पदार्थ तो आत्मा के लिये होने से प्रिय हो जाते हैं वे सचे प्रिय नहीं हैं)

यत्प्रीत्या ग्रीतिपात्रं तजुयुवातितनूजार्थमुख्यं स तस्मा-
त्प्रेयानात्माथ शोकास्पदमितरदतः प्रेय एतत्कथं स्यात् ।
भार्याद्यं जीवितार्थी वितरति च वपुः स्वात्मनः श्रेय इच्छं-
स्तस्मादात्मानमेव प्रियमधिकमुपासीत विद्वान्न चान्यत् ॥९॥

जिस आत्मा की प्रीति से ही अपना शरीर तथा स्त्री, पुत्र, धनैश्वर्यादि पदार्थ प्रीति के पात्र बन जाते हैं, वह आत्मा ही उन सबसे अधिक प्रिय होता है । (तात्पर्य यह है कि सुख दुःख के साक्षात्कार को ही भोग कहते हैं । वह भोग आत्मा को ही होता है । जो कोई पुरुष प्रिय का

भोग करने को प्रवृत्त होता है, वह यही तो चाहता है कि किनी प्रश्नार में प्रसन्न हो जाँ। नूलभूत उमी आत्मप्रीति के नामेर ने और विष्व भी प्रीति के पात्र बन जाते हैं। उक्ते पदके हमें दारीर पर प्रेम होता है क्योंकि वह सब भोगों का एक सुख्य लाभन है उसके द्वारा ही अन्य विषयों से हमारा सम्बन्ध छुड़ जाता है। फिर भोगों में नवसे अन्तर्हृतीशरीर होता है। उसके अनन्तर दोनों ही प्रीति से उत्पन्न हुआ पुनर भी प्रीति का पात्र हो जाता है, उसके पश्चात् इन दोनों ही जीविता का उपयोगी द्रव्य भी प्रेम की वस्तु दन जानी है, जिसे इन से साध्य, अन्न, पान, वस्त्र, ताम्बूल, अथ इत्यादि भी प्रेमालय हो जाते हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि सुख्य प्रीति तो आत्मा में ही है। दूसरों में जो प्रीति हो जाती है वह तो गौण है क्योंकि उनकी प्रीति आत्मप्रीति के आधीन होती है। यदि तर्वताधारण के निष्पत्र के अनुभव की बात है। फिर सुख्यप्रीति वाला वह आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय क्यों न हो? यदि कोई कहे कि आत्मा के सर्वांधिक प्रिय होने पर भी गौण प्रीति के पात्र विषयों का उपार्जन भी हमें क्यों न कर लेना चाहिये तो उससे कहो कि) आत्मा से भिन्न सम्पूर्ण विषय तो शोक से साक्षात् घर ही होते हैं। फिर ये पदार्थ प्रिय कैसे हो सकेंगे? (ज्ञानोंकि उनसे आदि मध्य तथा अन्त में दुःख ही दुःख मिलता है। विचार कर देख लो! कि विषयों के उपार्जन में दुःख, उनकी रक्षा में भारी दुःख, तथा नाश हो जाने पर तो महा दुःख ही हो जाता है) फिर जब हम यह देखते हैं कि जब किसी की जान पर आ बनती है तो जीवन की इच्छावाला वह पुरुष अपने स्त्री पुत्रादि को भैंट देकर भी अपने जापको साफ़ बचा लेता है तथा किसी महादुःख से तंग होकर आत्मा का कल्पाण चाहने वाला पुरुष, पहाड़ से कूदकर; गंगा में प्रवेश करके अथवा क्षात्रधर्म से वहादुरी के साथ अपने शरीर तक का बलिदान कर देता है, तो यह सब देखकर हमारे इस विचार को और भी पुष्टि मिल जाती है कि इस संसार

में आत्मा ही एक नर्याधिक प्रिय पदार्थ है (शरीर आदि में तो आवश्यकता के अनुसार शारीरिक प्रियता रहा करती है) इससे विद्वान् को यही विज्ञा मिलती है कि आत्मा को ही सबसे अधिक प्रिय समझ कर उसी की उपासना किया करे । दूसरे किनी की भी उपासना न करे (विषयो-पासना में अपने चहुनूल्य आत्मद्रव्य को कभी व्यव न होने दे ।)

(संसार की प्यारी वस्तुयें सदा प्यारी नहीं रहतीं, नदा प्यारा तो वह आत्मा ही रहता है)

यसाद्यावत्प्रियं स्यादिह हि विषयत स्तावदस्मिन् प्रियत्वं,
यावद्दुःखं च यसाद्भवति खलु तत्स्तावदेवाप्रियत्वम् ।
नैकस्मिन् सर्वकालेऽस्त्युभयमपि कदाप्यप्रियोपि प्रियःस्या-
त्प्रेयानप्यप्रियो वा सततमपि यतःप्रेय आत्मारूपवस्तु ॥१०॥

जिस (भावा आदि) विषय से इस लोक में जितना सुख मिलता है उन विषय में उसी परिमाण से उतनी ही ग्रीति हो जाती है । तथा जिस (भावा आदि) विषय से जितना दुःख मिलने लगता है उसमें उतना ही द्वेष हो जाता है । एक वस्तु में सब समय में दोनों (प्रियता तथा अप्रियता) वाले कभी नहीं रहतीं । (अपने प्रयोजन के अनुसार) कभी तो अप्रिय वस्तु प्रिय बन जाती है और कभी प्रिय भी अप्रिय हो जाती है । परन्तु यह आत्मवस्तु तो सदा प्रिय ही प्रिय रहती है ।

वृद्धदरण्यक के मैत्रेयी ब्राह्मण में कहा गया है कि हे मैत्रेयी, पुत्रों के लिये पुत्रों से प्यार नहीं किया जाता । किन्तु अपने लिये ही हम उन्हें प्यार करते हैं । सब से प्रथम तो हमें अपना आत्मा ही प्रिय होता है । उन्हींके लिये हम पुत्रों को हँड़ते किरते हैं । जो पुरुष गली में खड़ा होकर पुत्र के लिये केले किंवा सन्तरे खरीदना चाहता है, जिस प्रकार उसे केला किंवा सन्तरा प्रिय नहीं होता, किन्तु पुत्र ही प्रिय होता है, क्योंकि वह पुत्र के लिये ही तो केले और सन्तरे को चाहता है, इसी

प्रकार आत्मप्रीति ही मुख्य होती है, उन्हीं के लिये पुत्रादि ने प्रेम किया जाता है । कहने का भाव यही है कि अन्य सब विषयों को जह इस प्रेम करते हैं तो उस प्रीति का मुख्य आधार आत्मा ही होता है । उन विषयों पर तो गोपलन से प्रीति हो जाती है । यहीं यह आत्मवस्तु पुत्र से भी प्यारी है, धन ऐश्वर्य से भी प्यारी है, विनाश कर्त्ता तक ही, जिन जिन वस्तुओं से हम प्रेम करते हैं उन सभी वस्तुओं से यह आत्मवस्तु प्यारी होती है । क्योंकि यह आत्मा पुत्रादि सभी पदार्थों से भी निकट अन्तरंग होता है । इसने आत्मा को ही प्रिय समझकर उत्तमता करे । जो विवेकी लोग आत्मा को ही प्रियलन से उत्तमता फरते हैं उन के प्रिय का नाश कभी नहीं होता । पुत्रादि सर उकते हैं, उनसे हमारा वियोग हो सकता है, परन्तु यह आत्मवस्तु मन्ने नाला पदार्थ नहीं है । यह हमसे कभी वियुक्त नहीं होता ।

(कठोपनिषद् ने काम्य प्रेय और काम्य श्रेय की अपेक्षा मरण को ही आत्मनितक प्रेय और आत्मनितक श्रेय बताया है तत्त्वज्ञानी उसी में रम जाते हैं)

श्रेयः प्रेयश्च लोके द्विविधमभिहितं काम्य मात्यन्तिकं च,
काम्यं दुर्वैकवीजं क्षणलव्विरसं, तत्त्विकीर्पन्ति मन्दाः ।
ब्रह्मैवात्यन्तिकं यन्निरतिशयसुखस्यास्पदं संश्रयन्ते,
तत्त्वज्ञास्तच्च काठोपनिषदभिहितं पद्मिधायां च वल्याम् ॥११॥

लोक में श्रेय (कल्याणकारी) और प्रेय (प्रिय लगने वाला) दो दो प्रकार का कहा गया है। एक को काम्यश्रेय कहते हैं (जो कि किसी फल के विचार से किया जाता है) दूसरे को आत्मनितक श्रेय कहते हैं (जिससे मोक्ष की सिद्धि हो जाती है) इसी प्रकार प्रेय भी दो प्रकार का पाया जाता है । पहला काम्यप्रेम (जो पुत्रादि पदार्थ हैं) दूसरा आत्मनितक प्रेय (तो यह आत्मा ही है) । काम्यश्रेय अथवा काम्यप्रेय ही समस्त

दुःखों के मूल कारण हैं। क्योंकि ये तो ध्यानभर में फ़ीके पड़ जानेवाले पदार्थ हैं, (पलक मारते मारते इनका रूप बदलता है) विश्वास के अयोग्य काम्यश्रेय तथा काम्यप्रेय की इच्छा केवल मूर्ख लोग ही किया करते हैं। आत्मनितिक श्रेय अथवा आत्मनितिक प्रेय तो सर्वाधिक सुख का निवासस्थान अपना आत्मा किंवा ब्रह्म ही है। तत्त्वज्ञानी लोग तो उसी का आश्रयण कर लेते हैं। उसी का प्रतिपादन ६ वहशी वाली कठोपनिषद् में वही सुन्दरता से किया गया है (विस्तार से जानना हो तो वहाँ देखना चाहिये)।

(अन्तर्निष्ट वे लोग कहाते हैं जो जीवन की ऊँच नीच प्रत्येक चैषा में ब्रह्मात्मा की एकता का अनुभव करते रहते हों)

आत्माम्भोधेस्तरङ्गोऽस्म्यहमिति गमने भावयन्नासनस्थः,
संवित्सूत्रानुविद्वो मणिरहमिति वासीन्द्रियार्थप्रतीतौ ।
हृष्टोऽस्म्यात्मावलोकादिति, शयनविधौ मग्न आनन्दसिन्धा-
वन्तर्निष्टो मुमुक्षुः स खलु तनुभृतां यो नयत्येवमायुः ॥१२॥

यदि कहीं गमन करने का प्रसंग आ जाय तो जो यही सोचता हो कि मैं तो आत्मारूपी समुद्र में उठा हुआ एक तरङ्ग ही हूँ (तरङ्ग जिस प्रकार जल से पृथक् नहीं होता इसी प्रकार मैं भी अगाध आत्म-समुद्र से भिन्न नहीं हूँ) आसन पर बैठे हुए जो यही चिन्तन करता हो कि मैं तो ज्ञानरूपी महासूत्र में पिरोया हुआ एक जीवरूपी मणि ही हूँ, जब उसकी इन्द्रियें किसी पदार्थ को दिखायें तो जिसे तुरन्त यह धारणा हो जाती हो कि ओहो मुझे तो आत्मा का ही दर्शन हो रहा है और मैं उससे परम ग्रसन्न हो रहा हूँ। सोने के विषय में जो यह सोचा करता हो कि ओहो मैं इतने समय तक आनन्द समुद्र में ही छूता हुआ था। जो मुमुक्षु इस प्रकार अगाध अवस्था में छूता रहकर ही अपने जीवन को व्यतीत किया करता है उसे ही तुम अन्तर्मुख समझो।

(ज्ञानी की वह विशेषता है कि वह अन्तर के अन्तर पदार्थों को विशद् गरीर के दृढ़के समझता है, ऐसे ज्ञान का यह प्रभाव है कि वह किसी को कर्ता या भोक्ता कहने हुए सकुचाता है ।)

**विराजव्यष्टिरूपं जगद्विलमिदं नामस्पात्मकं सा-
दन्तःस्यप्राणमुख्या तप्रचलति च पुनर्वेत्ति सर्वान् पदार्थान्।
नायं कर्ता न भोक्ता सवित्रुविदिति यो ज्ञानविज्ञानपूर्णः,
साक्षादित्यं विजातन् व्यवहरति परमात्मानुनन्द्यानपूर्वम् ॥१३॥**

नामस्पात्मक वह नन्द्यन् जगत् विराट् का व्यष्टिरूप है, अन्दर रहनेवाला सब प्राणों में सुख्य जो चेतन है उसी के स्थाने वह सब देहादि चलता है, और उसीसे सब पदार्थों को जानता है। वह तो अस्त्र में सूर्य के तमान न कर्ता ही है और न भोक्ता ही है। ऐसा ज्ञान और ऐसा ही अनुभव (साक्षात्कार) जिस पुक्कर को प्राप्त होजाय वह तो निरसाकार् परमात्मा का अनुनन्द्यान करता हुआ ही व्यवहार किया करता है।

जब कोई पुरुष अपनी अन्तःकरण की वृत्ति को आत्माकार करना जान जाता है तो उसके पश्चात् जब कभी उसकी व्यष्टि वाहर के पदार्थों पर पड़ती है तब वह इत नामस्पात्मक (समप्रिव्यष्टिरूप समलै) जगत् की प्रत्येक वस्तु को विराट् की व्यष्टिरूप समझ लेता है। निरक्षिती की निन्दा किसी की असूया तथा किसी से दूर्धारा करने को उसका जी ही नहीं चाहता। वह समझ जाता है कि विराट् की एक व्यष्टि को दूसरी व्यष्टि की निन्दा करने का अधिकार ही क्या है ? तथा इस निन्दा से ग्रयोजन भी क्या सिद्ध होगा ? उसकी समझ में यह तो एक ऐसी वात हो जाती है जैसे किसी का एक हाथ उसी के दूसरे हाथ की निन्दा करने लगा हो। वह यह भी समझ लेता है कि वह व्यष्टिरूप जगत् अन्तर्वासी प्राणों के भी प्राण चेतन के आधार से ही व्यापार कर रहा है तथा उसी ज्ञानरूप के सहरे से पदार्थों को जान रहा है, यो वह सदा ही आत्मा का विचार रखता है। वह यह कभी भी नहीं भूलता कि वह

आत्मा तो सूर्य के समान सबका साक्षी है । इस समस्त जगत् को अपने अपने कामों में लगाकर भी जिस प्रकार सूर्य को कर्तृत्व का अभिमान नहीं होता, संसार के सब पदार्थों को देखकर भी उनके भोक्तृत्व का वृथा विचार जैसे सूर्य को कभी नहीं आता, इसी प्रकार वह भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व के आमक विचारों में कभी नहीं पड़ता । वह तो सूर्य के समान ही असङ्ग भाव से जीवनयात्रा किया करता है । इस संसार से पृथक् अपने अस्तित्व को स्थापित करने का ब्रह्मद्रोह वह कभी नहीं करता । उसे अपने को कर्ता किंवा भोक्ता कहते हुए कल्पान्तकाल सा आ जाता है । वह ऐसी दीनता को धारण करता है, वह अपने अस्तित्व को इतना मिटा देता है, मानो कोई वर्षा का जल ही दीन बनकर पृथिवी के गर्भ में छिप गया हो । यों धीरे धीरे अपने अहङ्कार को सूक्ष्म करते करते अन्त में ब्रह्म में लीन हो जाता है । ज्ञानी और अनुभवी पुरुषों की इस दिव्य अवस्था को भले प्रकार समझ लो और वायु के समान असङ्ग बनकर इस संसार में निर्द्वन्द्व होकर विचरण किया करो ।

(वैराग्य और संन्धास दो दो प्रकार के हैं)

नैर्वेद्यं ज्ञानगर्भं द्विविधमभिहितं तत्र वैराग्यमाद्यं,
प्रायो दुःखावलोकाद्भवति गृहसुहृत्पुत्रवित्तैपणादेः ।
अन्यज्ञानोपदेशाद्यदुदितविपये वान्तवद्देयता स्या-
त्प्रवज्यापि द्विधा स्यान्नियमितमनसां देहतो गेहतश्च ॥१४॥

(ज्ञान के उपाय) वैराग्य को दो प्रकार का बताया जाता है । पहला नैर्वेद्य (दुःख से उत्पन्न होनेवाला) तथा दूसरा ज्ञानगर्भ वैराग्य कहाता है । उनमें से पहला वैराग्य प्रायः करके घर के दुःखों (मित्रों के विश्वासघातों तथा वियोगों, पुत्रों से किये हुए अपमानों तथा धनों के नाश) को देखने आदि से हो जाता है (उसके हो जाने पर आगामी में उन दुःखदायी पदार्थों को संग्रह करने का विचार फिर नहीं रहता तथा

संगृहीत पदार्थों को भी त्वाग दिया जाता है) दूसरा ज्ञानगर्भ वैराग्य ज्ञान के उपदेश से होता है (ज्ञान का उपदेश अगले श्लोक में कहा है) कै किये हुए पदार्थ को जैसे कोई खाना नहीं चाहता । इसी प्रकार उपर्युक्त विपर्यों की विरसता को जानकर विवेकी लोग संसार के विपर्यों को हेय समझ लेते हैं । वे फिर उनकी इच्छा कभी नहीं करते । निश्चद मन वाले पुरुषों का संन्यास भी दो प्रकार का पाया जाता है । प्रथम तो वे घर को छोड़कर चले जाते हैं । उसके पश्चात् इस देह में से भी वे अपना अभिमान हटा लेते हैं । (फिर तो कहु आने पर जिस प्रकार वृक्ष फलते हैं, परन्तु उन्हें यह ज्ञान नहीं होता कि हम फल रहे हैं, इसी प्रकार उनके अग्रीर से जो कुछ किया हो जाती है, उसका उन्हें ज्ञान नहीं होता कि हमारे द्वारा अमुक किया हो गयी है । उनमें तो फिर शुद्ध साध्य-भाव का उदय हो जाता है । यही मुक्तप्राप्य पवित्र अवस्था है । इसी अवस्था का मार्ग दिखा कर वेदान्तों में कृतकृत्यता आ जाती है) ।

(दुःख केवल उन्हीं के भाग में आता है जो देह को आत्मा मान दैठते हैं और देह को सुख देनेवाले पदार्थों को भेरा कहने लगते हैं)

यः कथित्सौख्यहेतो स्त्रिजगति यतते नैव दुःखस्य हेतो-
देहैऽहन्ता तदुत्था स्वविषयममता चेति दुःखास्पदे द्वे ।
जानन् रोगाभिधाताद्यनुभवति यतो नित्यदेहात्मबुद्धि-
र्भार्यापुत्रार्थनाशे विपदमथ परामेति नारातिनाशे ॥१५॥

अब ज्ञानगर्भ वैराग्य के उपदेश की रीति बतायी जाती है—

इस श्लोकी में जो भी कोई पुरुष प्रयत्न करता है वह सब सुख के लिये ही करता है । दुःख के लिये यत्न करता हुआ इस संसार में कोई भी नहीं देखा जाता (फिर भी दुःखों से छुटकारा और सुख की प्राप्ति किसी को नहीं होती, उसका कारण सुनो) दुःख का निवास स्वभावतः दो स्थानों में रहता है प्रथम तो जो कि देह में अहन्ता कर ली जाती

है, दूसरे जो कि उस देह के लाभ के लिये अपने विषयों में ममता हो जाती है, उसे भी तुम दुःखों की एक चौपाल ही समझ लो । यह वात नहीं कि इस वात को लोग समझते ही न हों, इस वात को तो पतित से पतित आदमी भी समझते हैं कि यह देह आत्मा नहीं है (जभी तो वे कभी कभी कह देते हैं कि मेरा देह काला है अर्थात् मैं देह नहीं हूँ, मैं इस देह का स्वामी हूँ) परन्तु फिर भी ये मायामोहित प्राणी देहात्म-बुद्धि करके शरीर के रोगाभिवातादि पीड़ाओं को अनुभव किया करते हैं । इसी प्रकार वे लोग वढ़ते वढ़ते भार्यापुत्रादियों में ममता का अभिनिवेश करके उनके दुःख, उनकी आपत्ति तथा उनके नाश से अपने को ही दुःखी विपद्ग्रस्त किंवा विनष्ट हुआ समझ लेते हैं । (परन्तु जहाँ अहन्ता और ममता नहीं रहती तो वहाँ दुःखी होना भी नहीं पड़ता । तुम इस वात को भी लोक में प्रत्यक्ष देख लो कि) जिसको हम शत्रु मानते हैं उस पर जब कोई विपत्ति आती है तो हमें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता (जहाँ जहाँ धूम होगा वहाँ वहाँ अग्नि अवश्य होगी इसी प्रकार जहाँ जहाँ अहन्ता और ममता होगी वहाँ से दुःखों की सेना को कौन टाल सकता है ? तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण दुःखों का मूल कारण अहन्ता और ममता ही हैं । इन्हीं के कारण सुख के लिये प्राणान्त विपत्तियें उठाकर भी लोगों को दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं ।)

(घरों में रहनेवाले लोग अपनी सुकृति का उपाय सुनें)

तिष्ठन् गेहे गृहेशोऽप्यतिथिरिव निजं धाम गन्तुं चिकीर्षु-
देहस्थं दुःखसौख्यं न भजति सहसा निर्ममत्वाभिमानः ।
आयात्रायास्यतीदं जलदपटलव धातृ यास्यत्यवश्यं,
देहाद्यं सर्वमेवं प्रविदितविषयो यत्र तिष्ठत्ययतः ॥१६॥

जो लोग विवेकी तो हैं परन्तु किसी प्रारब्ध के कारण घर को नहीं छोड़ पाते अब उनके मोक्ष का उपाय बताया जाता है —

अपने गन्तव्यस्थान को जाने वाला अतिथि जिन प्रकार मर्त्त में किसी स्थान पर ठहर जाता है । ('कल को तो नहीं से जाना ही होगा' इस निश्चय के कारण वह उस स्थान में किसी प्रकार की नमता नहीं करता, उसकी दृश्यता के सुधारने में वह व्यक्त नहीं होता, वह तो अद्वैत-बुद्धि से ही उस स्थान में ठहरा रहता है ।) इनी प्रकार अपने आत्मधान की ओर को चला हुआ वह विवेकी यद्यस, नमता के अभिमान को तिलाङ्गलि देकर घर का मालिक होकर भी उन अतिथि के लमान शी देह के या घर के सुखदुःखों से निना सुखी या दुःखी हुए और निना कुछ किये धरे घर में पड़ा रहता है, वह समर सेता है कि जिन प्रकार वादलों को लाने में हमें कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ता तथा न दे हमारे प्रयत्न से हटते ही हैं (वे तो विधि की प्रेरणा से आते हैं, और उनीं की प्रेरणा से इधर उधर हट जाते हैं ।) इनी प्रकार आने वाले सुख दुःख हानि लाभ तथा देहादि विधि की प्रेरणा से आयेंगे तथा जाने वाले स्वयमेव चले जायेंगे, (हमारे लाख प्रयत्नों से भी इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होना है ।) वस इन्हीं विचारों से वह निश्चिन्त और निर्यन्त होकर घर में बैठा रहता है ।

(संन्यास के दो भेदों का विवरण)

शक्त्या निर्मोक्तः स्वाद्वहिरिव यः प्रव्रजनस्वीयगेहा-
च्छायां मार्गदुमोत्थां पथिक इव मनाक् संश्रयेद्देहसंस्थाम् ।
क्षुत्पर्यासं तरुभ्यः पतितफलभयं प्रार्थयेऽक्षमन्नं,
स्वात्मारामं प्रवेष्टुं स खलु सुखमयं प्रवर्जेद्देहतोपि ॥१७॥

जिस प्रकार सांप अपने निर्मोक (कैचुली) में से वहे प्रयत्न से बाहर हो जाता है इसी प्रकार जो अपने घर को भी वैराग्य के बल से त्यागकर थोड़े समय तक इस देह में ही आसा कर लेता है । मानो कोई पथिक किसी पेड़ की छाया में क्षण भर विश्राम ही ले रहा हो ।

वह फिर अपनी भूल को हटाने के लिये पक कर अथवा हवा से गिरे हुए थोड़े से फल फूल ही पेड़ों से मांग लेता है (अपने हाथ से फल तोड़ते हुए भी जिसे महापराध सा प्रतीत होने लगता है) यों धीरे धीरे सुख-स्वरूप स्वात्माराम में प्रवेश कर जाने के लिये इस देह को भी पीछे छोड़ कर आगे चढ़ जाता है (मानो कोई जूते उतारकर किसी राजदर्वार किंवा देवमन्दिर में ही शुस्त गया हो) ।

(अध्यात्मयोग से काम क्रोध और लोभ का परित्याग करो क्योंकि
इनसे पतन होता है)

कामो बुद्धाबुदेति ग्रथममिह मनस्युद्दिश्त्यर्थजातं,
तदगृहणातीन्द्रियास्यै स्तदनधिगमतः क्रोध आविर्भवेच ।
प्राप्तावर्थस्य संरक्षणमति रुदितो लोभ एतत् त्रयं स्या-
त्सर्वेषां पातहेतुस्तदिह मतिभता त्याज्यमध्यात्मयोगात् ॥१८

काम (अभिलापा) ही सबसे ग्रथम बुद्धि में उत्पन्न हुआ करता है । उसके पश्चात् मन में (रूपरसादि) पदार्थों का संकल्प किया जाता है (कि इनमें से अमुक अमुक पदार्थ मुझको मिलने ही चाहियें) फिर तो उन पदार्थों को ग्रहण करने के लिये इन्द्रियरूपी मुख फैला दिये जाते हैं (यन करने पर भी किन्हीं विष्णों के कारण) जब कोई भोग्य पदार्थ नहीं मिलते तो (विभक्ताओं पर) क्रोध उत्पन्न हो जाता है (जब हमारा काम किसी विष्ण से रुकता है तो उसी का क्रोध बन जाता है, अर्थात् जिसे हम अब तक काम समझते थे वही अब हमें क्रोध के रूप में दीखने लगता है) दैवयोग से यदि वह पदार्थ हमें प्राप्त भी हो जाय तो नाना उपायों से उसकी रक्षा के लिये जो वृथा विचार उत्पन्न होते हैं (कि ये पदार्थ अब हम से कभी भी वियुक्त न होने चाहियें इत्यादि) तो वस वही 'लोभ' कहाता है । इस प्रकार काम क्रोध तथा लोभ ये तीनों ही सब जीवों के (आत्मसौध से) अधःपतन के कारण हो जाते हैं

(अर्थात् इस दुःखलूप संसार में कैसने के नूँद कारण ये ही तीन हैं) बुद्धिमान् पुनर्य को उचित है कि अध्यात्मयोग की नदायता ने इन तीनों ही का त्याग करदे । (अर्थात् बुद्धि से परे जो एक आत्मनत्व नियान कर रहा है जिस की विस्मृति हो जाने पर ही ये काम क्रोध आदि उत्पन्न हो जाते हैं, जिसका ज्ञान हो जाने पर ये तीनों ही न जाने कर्ता छिप जाते हैं, उस आत्मतत्त्व के निरन्तर अनुमन्धान ने इनको नष्ट कर डाले) ।

(कल्माप साम में भी इन काम क्रोध आदिर्यों को व्याज्य करा है)

दानं ब्रह्मार्पणं यत्क्रियत इह नृभिः स्यात्क्षमाऽक्रोधसंज्ञा,
अद्वास्तिक्यं च सत्यं सदिति परमतः सेतुसंज्ञं चतुष्फलम् ।
तत्स्याद्वन्धाय जन्तोरिति चतुर इमान् दानपूर्वं शतुर्भिर-
स्तीत्वा श्रेयोऽमृतं च श्रयत इह नरः स्वर्गर्तिं ज्योतिरासिम् ॥१९

इस संसार में मनुष्य जिस वस्तु को ब्रह्मार्पण के उदारभाव में व्यव कर देता है वह 'दान' कहाता है । क्रोध का न दोना 'अन्मा' कहाती है । आस्तिक्य (अर्थात् परलोक तथा ईश्वरादि में विशास) ही 'अद्वा' है । सद्गूप ब्रह्म ही 'सत्य' है (ये चारों तो मुक्ति के लाधन हैं) इनके विचद्व अदान क्रोध अश्रद्धा तथा असत्त्व ये चारों ही सेतु अर्थात् प्राणियों के बन्धक कहाते हैं । ये अदान आदि चारों ही जीवों के बन्धन का कारण हुआ करते हैं । इस कारण दान आदि चार उपायों से इन पूर्वोक्त चार सेतुओं (बन्धनों) को त्याग कर संसारी पुरुषार्थीं मनुष्य इस लोक में क्षेय (पुण्यविशेष) तथा अमृतभाव (देवभाव) को प्राप्त हो जाता है । नोक्षार्थी को इन्हीं से अर्ध्वंगति तथा ज्योतीरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है ।

सामवेद का मन्त्र है कि—हाउ सेतूस्तर दुस्तरान् दानेनादानं
हाउ अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य हाउ सेतूस्तर दुस्तरान् अक्रोधेन
क्रोधं हाउ पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभाइ सेतूस्तर दुस्तरान् हाउ
अद्वया अश्रद्धां हाउ यो मा ददाति स इदेव मावाः हाउ सेतूस्तर

दुस्तरान् सत्येनानृतं हाउ अहमन्नमहमन्न मदन्तमाद्विं हाउ वा
एषा गतिः एतद्मृतं स्वर्गच्छ ज्योतिर्गच्छ सेतृस्तीर्वा चतुरः ।

जिस प्रकार जल के प्रवाह को सेतु (बन्दा) रोक देता है इसी प्रकार
इस संसार में जो एक ब्रह्मानन्दरूपी अखण्डकरस की धारा वह रही
है उसको रोकने वाले ये ही नार वडे भारी वन्धन हैं, जो कि प्राणियों
को ब्रह्मानन्द का अनुभव करने नहीं देते । इनको तोहने के ये ही
उन्मुक्त चार उपाय हैं । इनके सिवाय अन्य कोई भी उपाय सफल
नहीं होता । देखो, जो कुछ ब्रह्मार्पण के भाव से किसी को दिया जाय
वही 'दान' कहाता है । अरना देह अरनी भावां तथा अपने पुत्रादि
के लिये जो कुछ व्यय किया जाय, उसी को 'अदान' कहते हैं । इस
अदान को उल्लंघन करने की विधि यह है कि जो तुम अपने देहादि के
लिये व्यय कर रहे हो, अपने अध्यात्मयोग से उसको ब्रह्मार्पण समझ कर
ही व्यव किया करो । संसार नाम का जो यह एक वृद्धत् यज्ञ चल रहा है
तुम भी उसके एक घटक यन जाओ । तुम अपने को उस यज्ञ का ही
एक शुद्र साधन समझ लो । अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व स्थापित करना भूल
जाओ । कृष्ण ने भी अर्जुन को कहा है कि—हे अर्जुन, तुम अपने लिये
जो कुछ कर्म करते हो, जो कुछ भोग भोगते हो, जो हवन दान
करते हो, जो तप करते हो, उसे मेरे अर्पण कर दो । अपने कर्तृत्व और
भोक्तृत्व के दृथा अभिमान को एकपदे भूल जाओ । ऐसी भावना
करते ही तुम्हारा सब लोभोपहत स्वार्थमय जीवन ब्रह्मार्पण हो जायगा ।
इसी प्रकार क्रोधरूपी दूसरे प्रतिवन्ध को क्षमारूपी उपाय से तोड़ दो
और ब्रह्मानन्द के अखण्ड इस को निरन्तर वह लेने दो । क्रोध आने
पर यह सोचो कि मैं तो इन मन तथा चक्षु आदि देवों से भी प्रथम रहने
वाला अमृत ब्रह्म का नाभि हूँ अर्थात् बुद्धिरूप होकर मैं ही इस ब्रह्म को
पार उतारा करता हूँ । क्रोध का प्रभाव बुद्धि तक ही परिमित रहता है
मैं तो उस बुद्धि के भी पंर रहनेवाला ब्रह्मतत्त्व हूँ 'यो बुद्धेः परतस्तु सः'

यों व्रहत्यभावना से क्रोधर्हर्षी प्रतिमहृषि को यथा दिया करे और व्रहा-नन्द को वेशीकार्यक बदले दो । अदा की गदावना से अथडाल्ली नेतु को तोड़ दिया करे । यह निश्चय कर लो कि—इस संसार में परमात्मा ही परमात्मा है उसके अतिरिक्त और कोई गल्य तत्त्व यहाँ नहीं है । वेद के द्वाग वह कहता है कि जो युद्ध भुजेंद्रना है (सब कुछ नुसं अर्पण कर देता है) वही देवभाव को प्राप्त हो जाता है । यों आत्मिकत्व के भाव से अथडा पर भी विजय प्राप्त कर दिया करे तथा सत्यवद्धम के अवष्टम्भ से इस प्रातिभासिक विश्वाकार को पार कर जाओ । यह ध्यान दिया करो कि—अब तो मैं जीवरूप में अन्न को ना रहा हूँ । प्रदद्य योनि पर से सबको खानेवाले अग्नि आदियों को भी मैं ना दालता हूँ । यों जब प्रलयकाल में इस सकल जगत् का मुरझमें ही शेष हो जायगा तब जो यो रहेगा वही तत्त्व में अब भी हूँ । किर कर्ता में इस प्रातिभासिक जगत् में फँसता किल्लूँ? तथा क्यों अनन्त दुःखों को निमन्त्रण दे नूँ? वन वही मनुष्य के उद्धार की संक्षिप्त प्रक्रिया है । यही अमृतभाव कहाता है । इनी उपदेश को हृदय में धारण कर लेने से अच्छी गति मिलती है तथा ज्योतिःस्वरूप अमृत व्रहभाव की प्राप्ति हो जाती है ॥१९॥-

(देवों और अतिथियों की पूजा की आवश्यकता पर एक गम्भीर विचार)

अन्नं देवातिथिभ्योऽपितं ममृतमिदं चान्यथा सोधमन्नं ।
यथात्मार्थं विधत्ते तदिह निगदितं सृत्युरुपं हि तस्य ।
लोकेऽसौ केवलाधो भवति तनुमृतां केवलादी च यःस्या-
त्यक्त्वा प्राणाग्निहोत्रं विधिवदनुदिनं योश्चनुते सोपि मर्त्यः ॥

(वैश्वदेव कर्म में) देवताओं को तथा आये हुए अतिथियों को जिस अन्न में से अर्पण किया जाता है वह सभी अमृत हो जाता है । यदि देवता और अतिथियों को अन्न न दिया जाय तो वह निष्फल हो जाता है । जो पुरुष केवल इस अपने मांसपिण्ड को पालने के लिये

ही अब पकाता है वह अब तो उसकी मौत कहाता है। (उसका परिणाम यहां ही विनाशक होता है। उसके अब का कोई भी साक्षी नहीं होता) शरीरधारियों में जो पुरुष अकेला खाने वाला है वह तो केवल पार का ही भोक्ता है तभा जो मनुष्य प्राणामिहोत्र^५ के विना भोजन करता है उसे तुम मर्त्य ही समझ लो। ऐसा मनुष्य जन्म मरण के चक्र से कभी भी छुट्टी नहीं पाता।

देव में कहा है—मोघमन्नं विन्दुते अप्रचेताः सत्यं त्रवीभि वध इत्स तस्य । नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाधो भवति केवलादी” मंसार के अविनारदील लोग सारदीन अब को ही भोगते हैं। मैं गच्छ कहता हूँ कि वह अब ही उनकी मौत है क्योंकि जिन देवताओं तथा अपने सभाज के जिन लोगों की सहायता से उस वेसमझ ने इस अब (भोगों) का उपार्जन किया है, उनको तो वह कुछ

५ प्राणामिहोत्र—जो भोजन प्रथम मिले आचमन करने के पश्चात् उस के छोटे छोटे पांच प्राप्त वनाकर (१) प्राणाय स्वाहा (२) अपानाय स्वाहा (३) समानाय स्वाहा (४) उद्दानाय स्वाहा (५) व्यानाय स्वाहा इन पांच मन्त्रों से अपने मुख में पांच आहुतियां ढालना ही ‘प्राणामिहोत्र’ कहाता है। जिसका तात्पर्य यह है कि श्राण आदि पांच उपाधिवाले व्रत के लिये पांच ग्रास दिये जाते हैं। उससे पृथक् इस भोजन को भोगने वाला मैं कोइं नहीं हूँ। इन प्राणादियों को तृप्त करना ही इस भोजन का प्रयोजन है। इन प्राणों की गति से जो खुशकी अथवा भूख प्यास इस शरीर में उत्पन्न हो जाती हैं उनकी निवृत्ति ही इस भोजन का उद्देश्य है। इस शरीरयात्रा को बनाये रखने के लिये मैं प्राणों के साक्षी व्रत को ये ग्रास दे रहा हूँ। जब इस प्रकार व्रत्यज्ञ कर दिया जाय तो फिर जो अब शेष रह गया हो, उसे यज्ञशोप समझ कर शरीरयात्रा के लिये खाना चाहिये। अपने शुद्ध अनन्त आत्मा को भोक्ता समझने की भारी भूल कभी भी विवेकी को उत्पन्न न हो जाय, वही इस ‘प्राणामिहोत्र’ का अभिप्राय है।

लौटाता ही नहीं है । वह तो देवद्वारा और समाजद्वारा युद्ध है । वह इन देवताओं और अपने समाज के प्राणियों में कमा कर चौर की तरह अकेला बैठकर खाता है । उसे चाहिये था कि यशादि करके वृष्टि आदि करनेवाले दन्त्रादि देवताओं को प्रशंस करता और दान देने अपने उपजीव्य समाज को सहायता पहुँचाता जिससे वह समाज और वे देवता उसे फिर फिर सहायता पहुँचाने के बोन्द बने रहते । इन सब कहते हैं कि केवल अपने पेट के लिये ही खर्च करने वाला प्राणी केवल पाप की गढ़री ही अपने गिर पर लाद लेता है ।

(अतिथिपूजक को अन्न का घाटा नहीं रहता, यह समाज परस्तर के आदान प्रदान से चलता है इन्हिये कंजूस मत यनो)

लोके भोजः स एवार्पयति गृहगतायार्थिनेन्मं कुशाय ।
यस्तस्मै पूर्णमन्मं भवति मरविधौ जायतेऽजातशशुः ॥
सख्ये नान्नार्थिने योर्पयति न स सखा सेवमानाय नित्यं ।
संसक्तायान्नमस्साद्विमुख इव परावृत्तिमिच्छेत् कदर्यात् ॥

लोक में उसी को भोज कहते हैं जोकि घर में आये हुए दुर्बल रोगी किंवा अपाङ्ग याचक को अन्न का दान देता रहता है । लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के यज्ञों में ऐसे दानी को पूर्ण अन्न की प्राप्ति होती है (उसे अन्न का घाटा कभी नहीं पड़ता) ऐसा दानी अजातशशु हो जाता है । (अन्न का दान करने से उसके वैरी भी उससे मिनता करने लगते हैं) परन्तु जो अभागा पुरुष अपने घर पर आये हुए, अन्न की इच्छावाले मित्र को (जो मानो स्वर्गति दिलाने के लिये ताक्षान् स्वदेवता ही आगया है) खाने को भोजन तक नहीं देता तथा नित्य सेवा करने वाले अपने आश्रित भृत्यों को अन्न नहीं खिलाता, उसको तुम सखा किंवा मित्र ही मत समझो (तुम यह समझ लो कि यह नरकगति को जानेवाला एक आत्मद्वारी प्राणी है । उसे अपनी उत्कृष्टगति की परवा ही नहीं

है । उसे इतना विश्वास ही नहीं है कि दानियों के दान का बीमा करने वाला कोई तत्त्व भी इस संसार में है । उसे यह ज्ञात ही नहीं है कि भगवान् ने वेदे ज्ञोरों से इस बात की ज़िम्मेदारी अपने कन्धों पर उठा रखकी है कि 'अहं दाशुपे विभजामि भोजनम्' । 'अहं गर्भेषु दामि भोजनम्' । मैं दानियों को भोजन देता हूँ । और तो क्या मैं तो गर्भ में भी भोजन पहुँचाता हूँ ।) उसके इस अनुदारभाव को देखकर याचक लोग भी उस कंजूस के यहाँ से पराण्मुख होकर लौट जाते हैं वे फिर उससे नहीं माँगते । (वेद में भी कहा है कि—

स इङ्गोजो यो गृहके ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।

अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीपु कृषुते सखायम् ।

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचामुवे सचमानाय पित्वः ।

अपास्मात्प्रेयान्नतदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ।

भोज अर्थात् दानी वही है जो मांगने वाले को—विशेषतया अन्न मांगने वाले को जो कि अपने घर पर आकर मांगता है—जो शरीरी और कमज़ोरी या अंगहीनता के कारण मांगने लगा है, अन्न का दान देता रहता है । यामहूति अर्थात् यज्ञ में उस दानी को मनचाहा फल मिलता है । वह शत्रुओं की सेना में से भी मित्र बना लेता है । वह आदमी तो नेक आदमी नहीं है जो सदा आसपास वसनेवाले सदा सेवा करने वाले याचक को अन्न तक नहीं देता । उसके पास से उसको चला जाना चाहिये । जिस घर में से दीन मंगता लौटता है वह घर घर नहीं है वह तो शून्य जंगल है । उस मंगता को चाहिये कि वह किसी दूसरे दानी से माँगे । ॥२१॥

(अपने आपे को न जानो तो जगत् आ जाता है । अपने आपे को पहचान लो तो जगत् नहीं रहता । जगत् का अस्तित्व आत्मा को न पहचानने तक ही है, यों जगत् का उपादान आत्मा ही है)

स्वाज्ञानाज्ञानहेतु जगदुद्यलयौ सर्वसाधारणौ स्तो-
जीवेष्वास्यर्णगर्भं श्रुतय इति जगुहृथतं स्वप्रवोधे ।
विश्वं ब्रह्मण्यवोधे जगति पुनरिदं हृयते ब्रह्म यद्व-
चुक्तौ रौप्यं च रौप्येऽधिकरणमथवा हृयनेऽन्योन्यमोहात् ॥

हिरण्यगर्भ से लेकर सभी जीवों में यह यह ज्ञानाद्याद्य पायी जाती है कि आत्मा का अज्ञान हो जाने पर उगत का प्रादुर्भाव हो जाता है तथा आत्मज्ञान होते ही इस जगत का प्रलय हो जाता है । (यह हिरण्यगर्भ भी अपने स्वरूप को भूलकर 'मैं इश्वर हूँ मैं निनानहूँ हूँ' जब इस अनिमान में फँस जाता है तो उसे यह विश्वाभाव दिनार्द देने लगता है । परन्तु जब अपने अच्यात्मदोग से ब्रह्माद्याद्यगृह्णि करके यह अत्यन्त स्वरूप में लीन होता है तो इस विश्वाभाव का अन दो जाता है) यह यह श्रुतियों में प्रतिपादित की गयी है । (जीवोंके दिना हिरण्यगर्भ की) यह अवस्था जीवों में भी (दावभाग [विनानहूँ] के रूप में ; पायी जाती है । जब किसी को आत्मदोध होता (अथवा जब वो इं ब्रह्माद्याद्यगृह्णि कर नेता) है तो इस सकल संसार का ब्रह्म में हृचन हो जाता है (अमि में पर्दी हुई आहुति के समान ज्ञानाद्यि से इस जगत का भस्मीभाव होजाता है) अवोधावस्था के आ जाने पर तो (जब कि देशभिन्नान का प्रादुर्भाव होता है तथा 'मैं' और 'यह' नाम की दो शृक्तियें उत्तम हो जाती हैं ; तो उस समय) वह ब्रह्म ही इस जगत् में हुत हो जाता है । अथवा दो तमसलोकि—वह ब्रह्म इस जगत् में छिप जाता है—वह रहता ही नहीं । क्या तुमने देखा नहीं है कि भ्रम के दृष्ट जाने पर वह नांदी शुक्लि में कैसे समा जाती है ? तथा भ्रमकाल में वह शुक्लिलसी अधिकरण नांदी में ही कैसे छिप वैठता है ? क्योंकि उस समय अन्योन्य के स्वरूप का व्यथार्थ ज्ञान ही नहीं रहता ॥२२॥

(ज्ञान होने पर ही मालूम होता है कि ओहो आत्मा को ढकनेवाली तो कोई वस्तु ही यहाँ नहीं थी)

तुच्छत्वान्नासदासीद्गनकुसुमवद्देदकं नो सदासी-
 तिंक त्वाभ्यामन्यदासी द्वयवहृतिगतिसन्नास लोकस्तदानीम् ।
 किं त्वर्वागेव शुक्तौ रजतवदपरो नो विराद् व्योमपूर्वः,
 शर्मण्यात्मन्यन्यथैतत् कुहकसलिलवत् किं भवेदावरीवः ॥२३

विचार तो यह है कि ऐन्द्रजालिक के मायानिर्मित क्षणिक जल की भाँति शुद्ध व्रह्म को ढकनेवाला वह आवरण क्या था ? (किंवा इस जगत्प्रपञ्च को धड़कर खड़ा कर देने का कारण क्या था ? उस कारण को असत् किंवा सत् ही तो कहेंगे) वह जगत् का कारण (आकाश-पुण्य के समान सर्वथा) असत् तो नहीं था क्योंकि असत् तो तुच्छ को कहते हैं (अत्यन्त असत् पदार्थ में उपादान कारण बनने की योग्यता ही नहीं होती) उस कारण को भेदक (भेद बुद्धि का उत्पादक) सत् कहना भी ठीक नहीं (क्योंकि व्रह्म से भिन्न कोई वस्तु सत् है ही नहीं फिर किसी दूसरे को भेदबुद्धि का उत्पन्न करने वाला क्यों कर माना जाय) इससे यही मानना होगा कि वह सत् और असत् से विलक्षण ही कुछ था । उस समय (सृष्टि से प्रथम) तो वह व्यावहारिक सत् लोक भी नहीं था, उस समय व्योम और विराद् भी नहीं थे । ये सब तो उसके पश्चात् ही शुक्ति में रजत की तरह उत्पन्न हुए हैं । (इन सब अनुपपत्तियों [कठिनाइयों] से यही निश्चय करना पड़ता है कि) ऐन्द्रजालिक के मायाजल की भाँति केवल अज्ञान रहने तक ही यह मिथ्या आवरण प्रतीत हुआ करता है । जब भ्रम हट जाता है तो पता चलता है कि भूमि को ढकनेवाला जल तो वहाँ था ही नहीं । ठीक इसी तरह शुद्ध व्रह्म को ढकनेवाला आवरण तो कुछ था ही नहीं । परन्तु यह बात केवल ज्ञान हो जाने पर ही शात होती है ।

(आंख के छोटेपन से सूर्य के दीनने और न दीनने पर दिन रात होते हैं। इसी प्रकार मायालूपी दोप से आन्मा का भान न होने पर जीवभाव की उत्पत्ति हो गई है)

वन्धो जन्मात्ययात्मा यदि न पुनरभूत्तहिं मोक्षोपि नासी-
द्यद्वद्विदिनं वा न भवति तरणौ किंतु द्वन्दोप एषः ।
अप्राणं शुद्धमेकं समभवद्य तन्मायया कर्तुसंज्ञं,
तसादन्यच्च नासीत्परिवृत्तमजया जीवभूतं तदेव ॥२४॥

जब कि जन्ममृत्युलूपी वन्धन ही नहीं था तो वह स्वतःसिद्ध होजाता है कि मोक्ष भी कुछ नहीं था । जिस प्रकार सूर्य में दिन किंवा रात्रि कभी नहीं होती किन्तु वह तो (मनुष्य की) आंखों का दोप है (वे इतनी छोटी हैं कि प्रतिक्षण सूर्य को देख ही नहीं सकतीं । जब वे सूर्य को देखती हैं उस समय मनुष्य 'दिन' कहता है, जब वे सूर्य को नहीं देख सकतीं तब वह 'रात्रि' कहने लगता है । यो सूर्य का दर्शन और अदर्शन ही दिन रात का व्यवहार करने लगता है । सूर्य में यदि कोई वैदा हो तो उसे मालूम हो कि सूर्य में तो दिन रात का प्रभ ही कभी नहीं उठता) इसी प्रकार उस शुद्ध ब्रह्म में प्राण का सम्बन्ध कभी नहीं हुआ । वह एक अद्वितीय ही था । परन्तु मायालूपी दोप के कारण प्रथम तो वह कर्ता (अथवा हिरण्यगर्भ) बन गया । उस समय भी एक हिरण्यगर्भ ही या दूसरा कोई नहीं था । उसी पर जब माया का दूसरा वेष्टन चढ़ा और वह मायामोहित हुआ तो वही जीव बन गया । (यों यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म से भिन्न जीव नाम का यथार्थ पदार्थ कोई नहीं है । उदाहरण के लिये यह समझ लो कि जैसे सूर्य में वस्तुवृत्ति से दिन और रात नहीं होते । सूर्य के दर्शन और अदर्शन से ही जिस प्रकार दिन रात का व्यवहार होने लगता है इसी प्रकार ब्रह्म का अज्ञान हो

जाने पर जीवनरूपी भ्रम का अभ्युत्थान हो जाता है । वेद में भी—
नात्तदासीनोसदासीत्तदानीं नासीद्वजो तो व्योमा परो यत् ।

किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नभः किमासीद्वहनं गमीरम् ॥

(जगन् नहीं था परन्तु उत्पन्न हो गया । कैसे उत्पन्न हुआ सो सुनो !)

प्रागासीद्वावस्पं तम इति तमसा गृहमस्मादत्कर्य
क्षीरान्तर्यद्वद्मभो जनिरिह जगतो नामरूपात्मकस्य ।

कामाद्वातुः सिसुक्षोरनुगतजगतः कर्मभिः संप्रवृत्ता-
द्रेतोस्पर्मनोभिः प्रथममनुगतेः संतर्तं कार्यमाणैः ॥२५॥

इस जगन् ने प्रथम इच्छा उपादान कारण भावरूप अज्ञान ही
था । उसी में यह जगन् दूध में जल के समान छिप रहा था । इसी से
यह अग्नवग्नन और अतकर्य अवस्था में पड़ा था । इस प्रवाहरूप से
अनादि जगन् के, दोजग्नूत मनों के द्वारा, अनादि काल से
निरन्तर कराये जाते हुए कलों के प्रताप से, जगदुत्पादक व्रता को, जब
कि जगदुत्पादन की इच्छा होती है, तो उसकी वह इच्छा और सृष्टि
से पूर्व काल का यह अज्ञान—जिसमें कि यह जगत् छिप गया था—
दोनों मिलकर इस नामरूपात्मक जगत् को उत्पन्न कर देते हैं । यही
भाव वेद में यों आया है—

तम आसीत्तमसा गृहमेप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ।

काम स्तद्वये समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।

सतो वन्धुमसति निरविन्दनहृदि प्रतीप्या कवयो मनीपा ॥

(जगन् को भरमाने वाली मात्रा की चार विशेषताएँ)

चत्वारोऽस्याः कपर्दी युवतिरथ भवेन्नूतना नित्यमेपा-
माया वा पेशला स्याद्घटनघटनापाटवं याति यस्मात् ।

स्यादारम्भे घृतास्या श्रुतिभववयुनान्येवमाच्छादयन्ती
तस्यामेतौ सुपर्णाविव परपुरुषो तिष्ठतोर्ध्यग्रतीत्या ॥२६॥

इस माया में चार उल्लङ्घतायें पायी जाती हैं । प्रथम तो यह माया सदा युवती (हरी भरी नई नकोर वनी) रहती है, किसी के देहादि भले ही बृद्ध होवांय परन्तु यह सदा तक्षणी ही रहती है । दूसरे यह पेशाला अर्धात् वड़ी चतुर है क्योंकि यह अघटनघटना करने में वड़ी सिद्धहस्त है (विक्षेपों को उत्पन्न करना इसके बायें हाथ का ज्ञेल है ।) तीसरे यह प्रारम्भ में घृत के सामान चिकनी चुपड़ी नरम और मनोहर दीख पड़ती है (यह प्रारम्भ में अपना मनोहर मुख दिखाकर अज्ञानी जीवों को अपने भयकारी परिणामों को भुगाती है) श्रुतियों से उत्पन्न हुए आत्मशान को अपनी आवरणशक्ति से यह सदा ही दके रहती है । चार विशेषताओंवाली उसी माया में परमात्मा तथा जीव ये दोनों ही, दो पक्षियों के समान रहते हैं । माया तो पदार्थों को ढकती रहती है, उसके विरुद्ध परमात्मा तथा जीव सकल पदार्थों का प्रकाश किया करते हैं (यों इस माया ने दोनों का काम वृथा ही बड़ा रखा है) यही भाव वेद में यो आया है —

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते ।
तस्यां सुपर्णा वृपणा निषेद्धुः यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ।

(जीवात्मा और परमात्मा एक ही वस्तु हैं)

एकस्तत्रास्त्यसङ्गस्तदनु तदपरोऽज्ञानसिन्धुं प्रविष्टो
विस्मृत्यात्मस्वरूपं स विविधजगदाकारमाभासमैक्षत् ।
बुद्ध्यान्तर्यावदैक्षद्विसृजति तस्जा सोपि तामेवमेक-
स्तावद्विग्रास्तमेकं कथमपि वहुधा कल्पयन्ति स्ववाग्निभः ॥२७॥

उन दोनों पक्षियों में से एक (परमात्मा) तो सर्वथा असङ्ग है, परन्तु दूसरा वेचारा जीव अज्ञानसमुद्र में झूँव रहा है । वह मूर्ख अपने वर्थार्थ स्वरूप को भूलकर इस जगदाभास को देखने लग पड़ा है । परन्तु ज्यों ही वह अपनी निश्चयात्मिका बुद्धि में विचार करता है ज्यों ही वह माया उसे तुरन्त छोड़ देती है और वह जीव भी फिर उस माया से अपना नाता तोड़ देता है (तात्पर्य यह है कि जीव कोई जीव अन्तर्दृष्टि हो कर विचार करता है तो माया और जीव का संयोग भंग हो जाता है और आत्मा को अपनी अखण्डता का साक्षात्कार हो जाता है ।) श्रुति के जानने वाले ब्राह्मणों ने शिष्यवोध आदि व्यवहार चलाने के लिये इस एक ही आत्मतत्त्व में केवल वाणी से ही अनेकत्व मान लिया है । (इस अनेकत्व की कल्पना का आधार उनका वैसा अनुभव नहीं है ।) यही भाव वेद में यों आया है —

एकः सुपर्णः स समुद्रसाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे ।
एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति ।

(परलोक की गति के विषय में आत्मा की परिस्थिति)

नायाति प्रत्यगात्मा प्रजननसमये नैव यात्यन्तकाले
यत्सोऽखण्डोस्ति, लैङ्गं मन इह विश्वाति प्रव्रजत्युर्ध्वमर्वाक् ।
तत्कार्यं स्थूलतां वा न भजति वपुषः किन्तु संस्कारजाते
तेजोमात्रा गृहीत्वा व्रजति पुनरिहायाति तैस्तैः सहैव ॥२८॥

वह प्रत्यगात्मा गर्भ के अविर्भाव के समय गर्भ में प्रवेश नहीं कर जाता, तथा देहावसान के समय वहां से कहीं चला भी नहीं जाता । क्योंकि वह आत्मतत्त्व तो एक अखण्ड किंवा अपरिच्छिन्न (पूर्ण) दार्थ है (जाना आना तो परिच्छिन्न एकदेशी पदार्थों में ही हुआ

करते हैं ।) किन्तु पन्द्रह कला वाला लिङ्गदेह (मन) ही इस शरीर में प्रवेश करता और मरने के पश्चात् वही वहां से बाहर चला जाता है । वह (लिङ्गदेह) इस स्थूल देह की कृत्तिता तथा पुष्टिता को भी कभी प्राप्त नहीं होता । किन्तु इस शरीर से उत्कर्त्ति की अवस्था में पूर्व के संत्कारों, किंवा सूक्ष्ममूर्तियों के साथ सूक्ष्म इन्द्रियों तथा प्राणों को भी लेकर वहां से जाता है, और उत्पत्ति के समय इनके नाथ ही गर्भ में प्रवेश किया करता है । 'संत्कारजाते' के स्थान पर 'संत्कारजातैः' पाठ प्रतीत होता है ।

(वेद की कथा से भी चलन आदि धर्म मनके प्रतीत होते हैं)

आसीत्पूर्वं सुवन्धुर्भृशमवनिसुरो यः पुरोधाः सनाते-
र्वाह्यात्कूटाभिचारात् स खलु मृतिमितस्तन्मनोगात् कृतान्तं
तद्भाता श्रौतमन्त्रैः पुनरनयदिति प्राह सूक्तेन वेद-
स्तस्मादात्माभिसुक्तं व्रजति ननु मनः कहिंचिन्नान्तरात्मा २८

प्रवेश तथा निर्गम (आना तथा जाना) मन के ही हो रहे रहते हैं, आत्मा के नहीं । इसके लिये ऋग्याधा का उल्लेख किया जाता है — पहले कभी सनाति राजा का पुरोहित सुवन्धु नाम का ब्राह्मण एक बड़ा आदमी था । वह किसी ब्राह्मण के कपट अभिचार (गुत अन्ध-प्रयोग) से मारा गया था । उसका मन यमलोक में पहुँच भी चुका था । उसके भ्राता ने श्रौत मन्त्रों की सहायता से उसके मन को फिर वापिस छुला लिया । इससे यही लिद्द हुआ कि आत्मा के चिदाभास से युक्त मन ही कहीं जाता है । अन्तरात्मा तो कहीं भी और किसी तरह भी आता जाता नहीं है । (यह बात “ यत्ते यमं वैवत्वतं
मनो जगाम दूरकं, तत्ते आवर्त्यामसीह क्षयाय जीवसे ”
वेद के इस मन्त्र से कही गयी है । जिसका तात्पर्य यही है कि

हे सुवर्णो ! जो तेरा मन सूर्य के पुत्र यम के पास दूर पहुँच गया है, उस तेरे मन को हम लोग जीने के लिये वापिस बुलाते हैं, कि अभी इस लोक में आकर और निवास करो ।

(यह आत्मा दौड़ने वाले मनके आगे पीछे तथा मध्य में सभी जगह निष्कर्मभाव से रहता है । चलनादि धर्म तो मन के हैं आत्मा के नहीं)

एको निष्कर्म आत्मा प्रचलति मनसा धावमानेन तस्मिस्तिपृथग्नेऽथ पश्चान्नाहि तमनुगतं जानते चक्षुराद्याः । यद्वत्पाथस्तरङ्गैः प्रचलति परितो धावमानै स्तदन्तः प्राकृपश्चादस्ति तेषां पवनसमुद्दितैस्तैः प्रशान्तैर्यथावत् ॥३०॥

आत्मा यद्यपि एक निष्कर्म (कर्मशून्य) पदार्थ ही है परन्तु विषयों में दौड़ लगाते हुए मनके साथ (यह होड़ लगाकर खूब ही) दौड़ता है (इस विचित्र पहली पर तो ध्यान दो कि) वह आत्मा इस दौड़ते हुए मन में भी रहता है, इसके आगे भी रहता है, इसके पीछे भी बना रहता है, ये भोली भाली चक्षुरादि इन्द्रियें इस अनुगत आत्मतत्व को नहीं जान पातीं । उसकी हितति को स्पष्ट जानने के लिये तुम एक दृष्टान्त ही सुनलो—जिस प्रकार जल, हवा से उठे हुए, चारों ओर दौड़ने वाले, तरङ्गों के साथ भी दौड़ता है, उन तरङ्गों के अन्दर भी रहता है, उनके आगे (या पहले) भी रहता है, तथा उनके पीछे भी बना ही रहता है । (इसी प्रकार मायारूपी वायु के संयोग से उत्पन्न हुए मन आदि इन्द्रियों के साथ भी यह आत्मा खूब दुड़दौड़ लगाता है) जिस प्रकार तरङ्गों के शान्त हो जाने पर जल अपनी प्रकृति (स्वाभाविक अवस्था) में आ जाता है इसी प्रकार इन्द्रियों के शान्त हो जाने पर यह आत्मा भी अपनी स्वाभाविक अवस्था में पहुँच जाता है ।

(वे सन्नज्ञ जीवों के प्रपञ्चकीर्ति में उलझने का क्रम)

एकाक्यासीत् स पूर्वं सृग्यति विप्यानानुपृच्यान्तरात्मा
जाया मे स्यात् प्रजा वा धनमुपकरणं कर्म तुर्यस्तद्यथेषु ।
हेत्यैः प्राणावशेषैर्महदपि मनुते नान्यदस्माद्गृहीय-
स्त्वेकालभेदप्यकृत्स्नो मृत इव विरमत्येकहान्याऽकृतार्थः॥३१

वह अन्तरात्मा पहले (ब्रह्मचर्यकाल में) तो अकेला ही था, वह
फिर धीरे धीरे विषयों को हृदये लगा । हृदये हृदये उसने अपना जी-
वनाने के लिये जी जी को पत्तन्द किया (कि तुझे तो एक जीवनसहितीं
निलगी ही चाहिये) कुछ दिन गृहस का आनन्द भोगने के पश्चात्
(गोद में खिलाने तथा दृद्धावस्था में तेवा करने के लिये) उसे पुत्र
की इच्छा उत्तम हुई । (सब के निर्वाह के लिये) धन की आव-
श्यकता भी पड़ी, वह बहुत जी तुलसामधी उसने बढ़ोर ली । उस
अज्ञानी चृहत्य पर अब दिनचात वही धुन नदार रहने लगी कि किसी
प्रकार खर्च के लिये धन कमाया जाय । उत्तमा यह जोह दहां तक दद्दा
कि प्राणान्त विनतियैं उठा उठा कर भी वह धनोत्तर्वन के लिये
बड़े बड़े महोद्योग करने लगा । अब वह इसके तिवाय अन्य किसी
बल्कि जो अच्छा नहीं चमकता । जब कभी उसे धनादि विषय प्राप्त हो
जाते हैं तब वह फूल नहीं तमाता । वह तमझता है कि इससे दद्दी
धन्यता और उंसार में है ही क्या ! परन्तु जब उसे बहुत ने जमिन-
लपित विषयों में चे कोई भी एक विषय प्राप्त नहीं होता तो वह अपने
आप को अधूरा चमका कर तुरदे के समान ही निरुत्ताद और दीन होने
लगता है । जब कभी उसके उपार्जित विषयों में ते किसी एकाध
विषय की हानि हो जाती है तो भी वह अपने को अकृतार्थ ही मानने
लगता है । (वो अपने अज्ञान के कारण ही इस पूर्ण आत्मतत्त्व को

अज्ञानी प्राणियों ने अधूरा बना रखा है । ज्ञानी लोग तो उस आत्मतत्त्व को सदा समर्पण तथा कृतार्थ मान कर इस प्रपञ्च में कभी नहीं फँसते । ।

(अविद्या की आवरणशक्ति को समझने की रीति)

नासीत्पूर्वं न पश्चादत्तनुदिनकराच्छादको वारिवाहो
दृश्यः किन्त्वन्तरासौ स्थगयति स दृशं पश्यतो नार्कविम्बं
नो चेदेवं विनार्कं जलधरपटलं भासते तर्हि कसा-
त्तद्विश्वं पिधत्ते दृश्यमथ न परं भासकं चालकं स्वम् ॥२२॥

जो छोटा सा मेघ विलोकी के प्रकाशक ढे भारी सूर्य को भी आच्छादित कर लेता है यह मेघ (वर्षाकाल से) पहले भी नहीं था, पीछे (वर्षाकाल में) भी न रहेगा, यह मेघ तो (कुछ काल के लिये) मेघ में ही दीखने लगा है । यह मेघ देखने वाले पुरुष के नेत्रों को ही तो ढकता है, सूर्यमण्डल को ढकने का सामर्थ्य इस क्षुद्र मेघ में नहीं है । (क्योंकि मेघों के चारों ओर उसकी किरणें फैली ही हुई हैं । फिर भी सूर्य को जो कि प्रभाहीन हुआ बताया जाता है वह ठीक नहीं है ।) अदि सूर्य ही बात्तव में ढक दिया गया हो तो बताओ कि सूर्य के विना, वह सूर्य को ढक देने वाला मेघ, किस के सहारे से दीख रहा है ? (क्योंकि वह सूर्य तो तुम्हारे मतानुसार बादल से ढका जा चुका है । इससे कहते हैं कि सूर्य को देखने वाले मनुष्य की दृष्टि को ही बादलों ने ढक दिया है ।) ठीक इसी प्रकार वह मध्यकाल में उत्पन्न हुआ जगत् द्रष्टा जीव की बुद्धिरूपी दृष्टि को ही ढक देता है । उस परम्परा के स्वरूप को ढक देने का सामर्थ्य इस तुच्छ जगत् में नहीं है । जो कि परम्परा इसका प्रकाश करने वाला है, व्यवहार के रूप में जो कि इसे चला

रहा है, ऐसे उस अपने प्रकाशक नहामद्विम परमाम को यह तुच्छ नाया दृक ही कैसे तकती है ? (ब्राम के दृक दिये जाने पर तो इसका प्रकाश तथा इसका व्यवहार दोनों ही नहसा कर जायेगे । इससे यहीं सिद्ध होता है कि इस जगद्वात के आदि मध्य तथा अन्त में बर्तनान ब्रह्म ही सत्य पदार्थ है । उसके अन्नान से उत्तम हुआ यह जगद्वात रज्जुर्त्तम के समान निध्या ही है) ।

जगत् के मिथ्यापन को केवल वाणी से रटने वाले तोतों की यात हन नहीं कहते, यदि कोई भाग्यशाली सचमुच ही सोते हुए उरुप की तरह जगद्वयवहार को भूले तो उसकी दृष्टि में यह प्रपञ्च मिथ्या हो जाता है ।

भुज्जानः स्वमराज्यं ससकलविभवो जागरं प्राप्य भूयो
राज्यभ्रष्टोहमित्थं न भजति विपमं तन्मृपा मन्यमानः ।
स्यमे कुर्वन्नगम्यागमनमुखमधं तेन न प्रत्यवायी
तद्वज्जाग्रद्वशायां व्यवहृतिमखिलां स्वमवद्विसरेचेत् ॥३३॥

कोई पुरुष सुपने में राजा बनकर सम्पूर्ण वैभव के साथ स्वम के राज्य को भोगता हुआ, जाग कर 'हाय मैं तो राज्य के भ्रष्ट हो गया' ऐसा शूदा शोक कभी नहीं करता । क्योंकि वह समरता है कि वह राज्य तो निध्या था । इसी प्रकार स्वम में अगम्या ती से नमन किंवा मन्यपान या ब्रह्मवध आदि अनेक पापों को करता हुआ भी जागते ही उस पाप से पापी नहीं हो जाता (उसकी स्वमवातां तुनने वाले लोग उससे पातकियों का सा व्यवहार भी नहीं करते—उसके साथ चथार्पूर्व खानपान आदि व्यवहार किया ही करते हैं । इन पापों से उसके अपने मन में भी किसी प्रकार का अनुत्तम नहीं होता) क्योंकि वह समरका

हैं कि वह सब तो शूट ही था । यदि कोई महाभाग्यशाली प्राणी (जडभरत, शुक, मङ्ग तथा संवर्तक ऋषि के समान) इस जाग्रत् काल के रहते ही रहते पाप पुण्य के इस सम्पूर्ण व्यवहार को सुपने की तरह भूल जाय (किंवा आत्मनिद्रा के प्रभाव से एकदम अन्धा हो गया हो) तो फिर उस पर भी प्रायश्चित्तशास्त्र का शासन नहीं चलता (क्योंकि वह भी इन सब को मिथ्या ही समझ लेता है, मिथ्या समझने से जैसे वे लोग पाप से छुट जाते हैं इसी प्रकार मिथ्या समझने से उसका भी इस संसार से छुटकारा हो जाता है) ।

(जागरण और स्वप्न अवस्थाओं की ठगर्द में मत आओ)

स्वप्नावस्थानुभूतं शुभमथ विषमं तन्मृपा जागरे स्या-
आग्रत्यां स्थूलदेहव्यवहृतिविषयं तन्मृपा स्वापकाले ।
इत्यं मिथ्यात्वसिद्धावनिशमुभयथा सज्जते तत्र मूढः
सत्ये तद्वासकेऽसिन्निह हि कुत इदं तन्न विद्वो वयं हि ॥२४

स्वप्नकाल में जिस शुभ (रज्यभोग तथा इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति) को हम देखते हैं, अथवा जिस अशुभ (अपने को व्याघ से खाते हुए) को देख लेते हैं, जागरणकाल आ जाने पर ये सब कुखदुःखदायक घटनायें असत्य हो जाती हैं । इसी प्रकार जाग्रदशा में इस स्थूल शरीर से जो हम नाना प्रकार के स्वादु मिष्ठान खाते हैं या और कुछ भोग भोगते हैं अथवा आधिव्याधि की कठोर यन्त्रणायें सहते हैं, स्वप्नावस्था आते ही ये सब भी मिथ्या (वाधित) हो जाते हैं । यों हम तो दिनरात यही देखते हैं कि जागरण अवस्था स्वप्न अवस्था को मिथ्या सिद्ध कर रही है, तथा स्वप्न अवस्था जागरण अवस्था को मिथ्या बता रही है फिर भी संसार के पामर प्राणी उसी में अपने प्रेम का आग्रह रखते हैं

उसी को सब कुछ समझते हैं। इसका कारण ही हमारी समझ में आज तक नहीं आया। वे मूर्ख लोग दून दोनों अवस्थाओं के प्रकाशक अपने इस आत्मा में क्यों आसक्त नहीं हो जाते, वह वात हम अभी तक नहीं समझ पाये हैं।

(जाग्रत् का अनुभव भी सदा सत्य नहीं रहता)

जीवन्तं जाग्रतीह स्वजनमथ मृतं स्वप्नकाले निरीक्ष्य
निर्वेदं यात्यकस्मान्मृतममृतमसुं वीक्ष्य हर्य प्रयाति ।
स्मृत्वाप्येतस्य जन्तोनिधनमसुयुतिं भापते तेन साकं
सत्येवं भाति भूयोऽल्पकसमयवशात्सत्यता वा सृपात्वम् ॥३५॥

जब हम जागते समय अपने सम्बन्धी किसी जीवित मनुष्य को स्वप्न में मरा हुआ देखते हैं तो हमें अक्सात् वडा हुःत होता है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि जाग्रत् में मरे हुए किसी अपने सम्बन्धी को सुपने में जीता देख कर हमें परम हर्य हो जाता है। इसने यही सिद्ध होता है कि जाग्रत् काल का अनुभव भी स्वप्नकाल में मिथ्या हो जाता है। स्वप्न देखने वाला पुरुष इस पुरुष के मरण और जीवन का स्मरण करता हुआ भी, उसके साथ वात चीत करता है, उसके साथ दीनालाप भी किया करता है। ऐसी समान अवस्था में भी जब कि लोग स्वप्न को तो मिथ्या और जाग्रत् को सत्य समझते हैं तो उसका कारण केवल यह है कि जाग्रत् काल का अनुभव अधिक काल तक ठहरता है, इससे उसे सत्य मान लेते हैं, तथा स्वप्नकाल का अनुभव स्वप्नकाल तक रहता है, इससे उसे मिथ्या समझ लेते हैं।

चिरकाल तक रहने के कारण जाग्रत् काल का अनुभव दृढ़ हो जाता है इसी से वह सत्य प्रतीत हुआ करता है। स्वप्नकाल का अनु-

भव धारक्षायी होने से दृढ़ नहीं हो पाता इसी से मिथ्या प्रतीत हुआ करता है । केवल इतनी ही विशेषता इन दोनों अनुभवों में पायी जाती है । विचारन्दिषि से देखने पर तो वे दोनों ही मिथ्या हैं क्योंकि कालान्तर में इन दोनों का ही वाध हो जाता है ।

(यह जगत् असत् ने यना है पर सत्य के समान हो गया है)

स्वाभूत्वीसंगसौख्यादपि भृशमसतो या च रेतश्चयुतिः स्यात्सादृश्यात्तद्वदेत्तस्फुरति लगदसत्कारणं सत्यकल्पम् ।
स्वमे सत्यः पुमान् स्याद्युवतिरिह पृष्ठैवानयोः संयुतिश्च प्रातः शुक्रेण वस्त्रोपहतिरिति यतः कल्पनामूलमेतत् ॥३६॥

सर्वथा अविद्यमान भी स्वाभूत्वी के संभोगमुख से जब कि वीर्यपात हो जाता है तब वह वीर्यपात 'व्यावहारिक सत्य' कहने लगता है । इसी प्रकार यह जगत् भी सत्य या प्रतीत तो होता है परन्तु असल में यह (नत् से विलक्षण अविद्यानामक) असत् कारण से उत्पन्न हो गया है । (क्योंकि यह जगत् नुयुति अवस्था के आने पर नहीं रहता ।) देखो, स्वप्न में पुरुष तो नत्य होता है, युवती मिथ्या होती है, तथा इन दोनों का मैयुन भी मिथ्या ही होता है । परन्तु फिर भी प्रातःकाल होने पर वस्त्र में वीर्य का धब्बा सत्य ही देखा जाता है । इसी प्रकार आत्मा सत्य है, मायारूपी व्त्री असत्य है, उन दोनों का सम्बन्ध भी आध्यात्मिक होने से मिथ्या है, परन्तु इस आत्मा तथा माया के असत्य संयोग से उत्पन्न हो जाने वाला यह जगत् व्यवहार में सत्य सा प्रतीत होने लग पड़ा है । क्योंकि इस सब का आधार केवल कल्पना ही तो है ।

(जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में आत्मा की करामातों को तो सब देखते हैं, पर आश्र्वय है कि उस करामाती की ओर को किसी का भी ध्यान नहीं जाता)

पश्यन्त्याराममस्य प्रतिदिवसममी जन्तवः स्वापकाले
पश्यत्येनं न कथित् करणगणमृते मायया क्रीडमानम्
जाग्रत्यर्थवजानामथ च तनुभृतां भासकं चालकं वा
नो जानीते सुपुसौ परमसुखमयं कथिदाश्र्वयमेतत् ॥३७॥

स्वप्नावस्था के आने पर जब कि यह आत्मतत्त्व चाषेन्द्रियों की सहायता के बिना, केवल माया से ही स्वापदेह तथा स्वाम इन्द्रियें बनाकर क्रीडा (विहार) किया करता है, तब प्रत्येक जीव प्रतिदिन इस की क्रीडा को तो देखते हैं, परन्तु शोक ! कि इस क्रीडा करनेवाले को कोई नहीं देख पाता । अथवा जब कि यह जाग्रत् काल में ही सकल शरीरधारियों को चलाता रहता है और संसार के पदार्थों को प्रकाशित किया करता है, अथवा सुपुसिकाल के आ जाने पर जब यह परमसुख-मय ही हो जाता है, तब भी इस परमात्मा की इन क्रीडाओं को तो प्रत्येक मायामोहित प्राणी देखता है, परन्तु उनके दुर्भाग्य से किसी का भी ध्यान इस सकलचालक आत्मतत्त्व की ओर को नहीं जाता, यह कितने बड़े आश्र्वय की बात है ? (जाग्रत् स्वप्न किंवा ज्ञानिति नामक नाटक के सूत्रधार इस चतुर्थ आत्मतत्त्व को कोई क्यों नहीं पूछता, हम को यही एक बड़ा अचम्भा हो रहा है) ।

(जब सभी कुछ असत्य हैं तो उपनिषदों से उत्पन्न हुए ब्रह्मज्ञान के सत्य होने का कारण सुनिये)

स्वमे मन्त्रोपदेशः श्रवणपरिचितः सत्य एष प्रवोधे
स्वामादेव प्रसादादभिलपितफलं सत्यतां प्रातरेति ।

सत्यप्राप्तिस्त्वसत्यादपि भवति तथा किंच तत्स्वप्रकाशं
येनेदं भाति सर्वं चरमचरमथोचावचं दृश्यजातम् ॥३८॥

स्वप्रकाशमें कानों से सुना हुआ वह मन्त्रोपदेश जागरण में भी सत्य ही होता है । स्वप्रकाश के किसी शुभदर्शन से प्रातःकाल अपने अभिलम्बित फल सत्य होते हुए देखे जाते हैं । इससे यही निश्चय होता है कि सत्य की प्राति असत्य पदार्थों से भी हो जाया करती है (ऐसी अवस्था में यह शंका किसी को न करनी चाहिये कि 'जब कि स्वप्र के द्वयान्त से जाग्रत् अवस्था भी मिथ्या हो गयी तो जाग्रत् काल में गुरु-नुख से अथवा अव्यात्मकास्त्र का मनन करने से प्रात हुआ ब्रह्मवोध भी मिथ्या ही होगा और फिर ब्रह्म भी वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या ही कहाने लगेगा' क्योंकि असत्यसे भी सत्य की प्राति को हस लोकमें बहुधा देख रहे हैं) जिससे यह चराचर उच्चनीच सारा दृश्य जगत् प्रतीत हो रहा है, उस स्वयंप्रकाश सत्य ब्रह्म की प्राति, असत्य से होजाय तो इसमें आश्रय क्यों करते हो !

(स्वप्रमें ही नहीं, जगत् को सत्य बताने वाली जाग्रत् में भी जगत् मिथ्या दिन्द होता है । इसी से उपनिषदों में प्राणायाम-व्रत को ही आत्मप्राप्ति का साधन बताया गया है । उपनिषदों को इन्द्रियों पर विश्वास नहीं है)

मध्यप्राणं सुपुस्तौ स्वजनिमनुविशन्त्यग्निसूर्यदयोऽमी
वागाद्याः प्राणवायुं तदिह निगदिता ग्लानिरेपां न वायोः ।
तेभ्यो दृश्यावभासो भ्रम इति विदितः शुक्तिकारौप्यकल्पः
प्राणायामव्रतं तच्छ्रुतिशिरसि मतं स्वात्मलब्धौ न चान्यत् ॥३९

सुपुस्तिकालमें जब (इन वाक् आदि इन्द्रियों के) ये अग्नि सूर्य आदि

देवता अपने उत्पादक मध्य प्राण (विराट्गरीर) में प्रवेश करजाते हैं तथा जब कि वागादि इन्द्रियें भी सुयुति के समय प्राणवायु में प्रवेश कर जाती हैं तो (उपनिषदों के इस प्रकरण से) वही शिद्ध होता है कि अपने अपने अधिदेवता सहित इन्द्रियों की ही ग्लानि (अल्प) होती है, परन्तु प्राणवायु का अस्त कभी (सुयुतिमें भी) नहीं होता (क्योंकि वह तो सुयुति के समय श्वास के रूप में प्रत्यक्ष ही देखा जाता है) जिस जाग्रत् काल में कुछ काल के लिये जब कि उन (अल्प होजाने वाली) चक्षुरादि इन्द्रियों से रूपरसादि दृश्यों का अवभास नुमें हो जाता है तो तुम उस को भी तात्त्विक क्यों मानते हो । वह तो एक भ्रम ही है । मानों किसी शुक्तिमें कोई प्रतिभासिक रजत ही दीख गया हो । उस शुक्तिरजत की तरह यह नामरूपरूपी जगत् भी ब्रह्मरूप अधिकरण में प्रातिभासिक है । ये इन्द्रियां—जोकि विषयदर्दीन कराती हैं केशल जाग्रत्काल में रहती हैं, इसी से तीनों अवस्थाओं में अनुष्ण रहने वाला प्राणायाम-ब्रत ही आत्मोपलब्धि का साधन वृहदारण्यक की 'तस्मादेकमेव ब्रतं चरेत् प्राण्याच्चैवापान्याच्च' (१-५-२३) इस श्रुति में वताया गया है और कोई नहीं (उसका तात्पर्य यह है कि यदि चक्षुरादि इन्द्रियों के ब्रत पर विश्वास करोगे तो लाख प्रयत्न करने पर भी आत्मदर्दीन नहीं कर सकोगे । क्योंकि ये इन्द्रियाँ खमावते ही मिथ्या [विकालवाधित] पदार्थों को दिखाया करती हैं, आत्मवस्तु को दिखाने के अनुकूल परिविधि उत्पन्न करने में ये सदा ही वाधा डालती रहती हैं । उपनिषद् का तात्पर्य यही है कि इन इन्द्रियों पर विश्वास न किया जाय तथा प्राणायामब्रत का ही पालन किया जाय । नहीं तो मृत्यु का ग्रास होने से कौन बच सकता है ।)

('वराण्य से सुखाये हुए संसारवृक्ष को ज्ञानरूपी अग्नि आसानी से चिपट जाती है और झटपट जला डालती है ।)

ताकस्मादाद्र्मेधः स्पृशति च दहनः किंतु शुष्कं निदाधा-

दार्दं चेतोनुवन्धे: कुत्सुकुतमपि स्वोक्तकर्मप्रजार्थेः ।
तद्वज्ञानाप्तिरेतत्स्पृशति न सहसा किन्तु वैराग्यशुष्कं
तस्माच्छुद्धो विरागः प्रथममभिहित स्तेन विज्ञानसिद्धिः ॥४०

वीर्त दात्र वो अपि तुम्हारे नहीं जलायाता किन्तु निदाव-
शुष्क (शूर्मे शूर्षे) दात्र ही ही जलायारे । दीर्घ दर्मी प्रजार अपने वर्णा-
वर्णविदित कर्मों के अनुशान करने, पुर्वों वो उत्तम करके इस लोक
पर विजय प्राप्त करने, तथा अर्थशास्त्र विज्ञानादि का अनुशान करलेने
से वहे भागी दुर्जनी निज का भी भानामि ने दाद नहीं द्योगाता (क्योंकि
वह निज तो भास्यादि विद्यशक्ति से सदा ही आई हुआ रहता है)
जय कोई अभिरामी अपने निज को विनाशकरुणी निदाव से शुष्क कर
जाने तो फिर झालामि उसे हूँत ही भस्यमान कर डालती है । शुद्धवैराग्य
जय किंगी वो उदय हो जाद (जय किंगी वो पामरजनयहुगत भास्यादि
विषयों में से हीर अनि व्यो) तो यह वैराग्य ही सब से आवश्यक
माना गया है । इनी वी ललायना में जान जैसी पवित्र वस्तु किसी के
दाथ द्वारा सहजी है ।

न कर्मणा न प्रज्ञया त्यागेनके अमृतत्वमानशुः । परेण नाकं
निहितं गुहायां विभ्राजते तद्यनयो विश्वनित । अकेल वैराग्य से ही
नहीं लोगों ने अमरभाव को प्राप्त कर लिया था । सकाम कर्मों के अनु-
शान से, सन्तान वो उत्तम करने में, अथवा वड़े वड़े दानों के करने से
अमरभाव की प्राप्ति की दुराया कभी मत करो । देखो ! पर ब्रह्म ने
अपने जिस नाक नामक अंश को छद्यरुणी गुफा में निधि के समान
छिपाकर रख दिया है, जो कि सदा ही इन जगत् के पदार्थों को प्रकाश
करता हुआ सद्य ही प्रतीत हुआ करता है, उसी अमृत किंवा अमर
भाव में अती लोग प्रवेश कर जाते हैं । वे उसी अमृत तत्व में सदा के
लिये तुम वैठते हैं । फिर वे उसमें से कभी नहीं निकलते । उस अमृत-

भाव का लोभ उन्हें वहां से निकलने ही नहीं देता, मानो चन्द्रामृत के पान का लोभी कोई मृग अपनी इच्छा से उसी में फँसा रहगया हो। फिर तो उस यती का नाम स्पष्ट कुछ भी नहीं रहता, मानो कोई नमक का टला ही सदा के लिये समुद्र में बुल गया हो।

(इश उपनिषत् भी वैराग्य से ही ज्ञानप्राप्ति को बताती है)

यात्किञ्चित्त्वनामरूपात्मकमिदमसदेवोदितं भाति भूमीं
येनानेकप्रकारै व्यवहरति जगद्येन तेनेश्वरेण ।
तद्वत्प्रच्छादनीयं निभृतरशनया यद्वदेव द्विजिहु-
स्तेन त्यक्तेन भोजयं सुखमनन्तिशयं मागृथोन्यद्वनाद्यम् ॥४१

असत् कहाने वाला नामरूपात्मक यह जो कुछ जगत् पृथिवी में तुम्हें प्रतीत होरहा है, वह अनेक प्रकारों से उस जिस इश्वर की गुन सहायता से, व्यवहार किया करता है, निश्चितरूप से पहचाने हुए, उसी परमात्मा से तुम भी (अपनी बुद्धि की सहायता लेकर) इस जगत् को ठीक इसी प्रकार आच्छादित कर डालो, जिस प्रकार कि निश्चितरूप से पहचानी हुई रज्जु से, कल्पित सर्प थोड़े ढक दिया जाता है। (इस जगत् के काल्पनिक रूप को देखना छोड़ कर इस के तात्त्विक रूप पर ही सदा दृष्टि रखा करो) इस आमक जगदाभास को दूर त्याग (छोड़) कर (इस के क्षणिक रूप की सर्वथा अपेक्षा करके) सब से उत्कृष्ट जो आत्यन्तिक आत्मसुख है उस का ही उपभोग सदा किया करो। धनादि विपयसुख की दुरभिलापा कभी मत करो।

इसी महावार्ता को ईशावस्योपनिषत् की पहली श्रुति में यों कहा गया है कि यह जो प्रत्यक्ष व्यवहार करता हुआ नामरूपात्मक जगत् तुम्हें दीखता है, उस सब को सर्वोक्तुष्ट परमात्मतत्व से ढक डालो, अर्थात् उस जगद्भासक परमात्मतत्व को अपनी तपस्विनी बुद्धि से देख कर इस जगद्भास को तुच्छ समझलो। जब तुम इस जगद्भास का त्याग

कर चुके तो जो पर है तुम आनन्दस्ती आत्मदृश्य का तृतीयर्थन्त यथेच्छ
उम्मेद करते । ऐनेभवादि की तुच्छ अभिलापाओं को अपने हृदय
में कभी नह उठाने दो । जब कभी ऐसी भ्रामक इच्छाएँ उदय हुआ करें
तो अपने मन में यह प्रश्न किया करो कि हे मेरे मन ! यताओं तो
नहीं कि ये भलादि पदार्थ अन्तातः किस वस्तु से उत्तम हुए हैं ? जब
तुम्हारा मन उन के उत्तमात्म का विचार करेगा तो तुरन्त ही उस की
हट्टी आत्मन्मुक्ति पर जा पहुंची, और यह तुम्हारी विषयप्रार्थनापिशाची
सदा के लिये अन्तर्दिन हो जानगी । तभी तुम अपने कैवल्यका अनुभव
के सक्षीगे ।

(जीवन्मुक्ति और विदेशमुक्ति के उपाय)

जीवन्मुक्ति मुमुक्षोः प्रथममय ततो मुक्तिरात्यन्तिकी च
तेऽभ्यासज्ञानयोगाद्गुरुचरणकृपापाज्ञसङ्गेन लब्धात् ।
अभ्यासोपि द्विधा स्यादधिकरणवशाद्देहिको मानसश्च
शारीरस्त्वासनाद्यो युपरतिरपरो ज्ञानयोगः पुरोक्तः ॥४२॥

मुनुक्तु पुनरां को ज्ञान द्वा जाने के पश्चात् प्रथम तो जीवन्मुक्ति की
प्राप्ति होती है, उन के पश्चात् प्रारब्धभोग के समाप्त हो जाने पर
आत्मन्तिक मुक्ति (विदेशमुक्ति) मिल जाती है । ये दोनों प्रकार की
मुक्तियें आत्मदर्शी गुरु के नगरों की कृपा से प्राप्त किये हुए अभ्यास
तथा ज्ञान के योग ने मिला करती हैं । अधिकरण के अनुसार वह
अन्नाम भी दो प्रकार का पाया जाता है । पहले अभ्यास को देहिक
(शारीर) अभ्यास कहते हैं । दूसरे को मानस अभ्यास कहा जाता है ।
आमनादिगाधन दैहिक अभ्यास में गिने जाते हैं । दूसरे को उपरति
अर्थात् प्रपञ्चोपशम कहते हैं । इसी को पहले ज्ञानयोग नाम से भी
कहा गया है ।

(वीयन्मुकि)

सर्वानुन्मूल्य कामान् हृदिकृतनिलयान् विसयद्वनिवै-
दीयदेहाभिमान् स्त्वजति चपलतामात्मदत्तावधानः ।
यात्यृधर्स्थानमुच्चः कृतमुकृतभरो नाडिकाभिर्विन्वितं
नीलश्वेतारुणाभिः स्ववद्मृतभरं गृह्यमाणात्मसौख्यः ॥४३

जब कोई भक्त आल्मा का निरन्तर अनुगमन करता है तो वह (अनेक कल्पों में) नंस्तानस्त ने इसमें परे हुए अनेक मध्यां मनोरथों को इन प्रकार उग्र उत्थाइ उत्तराद्, मातों विनीत गहरे गड़े हुए लूटों को किसीने उत्थाइ कर दूर पेंक दिया हो । तिरतो (उन मनोरथों की पूर्ति के साथ) इन देवीं में मैं भी उन मरण-नुभाव का अभिमान स्वयमेव विदीर्ण हो जाता है । किंतु उन निरन्तर में चपलता नहीं रहती (जब उस में धेहाभिमान ही नहीं रहता तो उस की अहन्ता और मरता भी द्वयमेव नहीं हो जाती है, मनोरित चूट जाता है, प्रवृत्ति रुक जाती है, ज्योजने पर भी प्रवृत्ति का दत्ता नहीं पाता । परन्तु यह सब अद्वृत गाथा तभी होती है, जब कोई अनुगमन से आत्मदेव की शरण में जा पजा हो) एवं मरणमा (असों अधमरे अद्वक्षार से) वथाकथश्चित् केवल आत्मनुल का भोग देता हुआ, नील श्वेत तथा अदण आदि नामा प्रकार की विनिय नाडियों से मिल कर बने हुए, अमृत रन से भरे हुए, वे ही अद्वृत जप्तस्थान को (जिस को सहकृदलचक किंवा ब्रह्मरन्ध्र, अथवा भ्रन्त की गुहा भी कहते हैं, सुपुमा के मार्ग में हो कर) प्राप्त हो जाता है ।

ज्ञान की अवर्णनीय महिमा से इस विज्ञाला के लालिक नार्ग जौ छोड़ कर सुपुमा नामक मोक्षद्वार में ही उस का अभ्यन्तर मन और प्राण विचरण करने लगते हैं । उस मन के हारा वह मरणमा नदा ही ब्रह्मरन्ध्र में निवास किया करता है ।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येत्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽ-
 मृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते । तद्यथाहिनिर्वयनी बलमीके मृता
 प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमनस्थिकोऽशरीरः प्राज्ञ
 आत्मा ब्रह्मैव लोक एव सम्रादिति होवाच याज्ञवल्क्यः । तदप्येते
 श्लोका भवन्ति-अणुः पन्था विततः पुराणो माङ्गस्पृष्टोनुवित्तो
 मयैव, तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविद् उत्कम्य स्वर्गं लोकसितो
 विमुक्ताः । तस्मिन् शुद्धमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च ।
 एष चः पन्था ब्रह्मणा हानुवित्त स्तेनैति ब्रह्मवित्तैजसः पुण्यकृच्च ।
 इस मुमुक्षु पुरुष के हृदय में पड़े हुए सम्पूर्ण संकल्प जब शान्त हो
 जाते हैं तो उस की महिमा का क्या वर्णन करें, फिर तो वह मरणधर्मा
 होकर भी सदा के लिये अमरभाव को प्राप्त हो जाता है । तब तो वह
 इस नश्वर देह में रहकर भी परमानन्दस्वरूप ब्रह्म का अनुभव कर
 लेता है । शरीर में रह कर भी उसे शरीराभिमान नहीं रहता । मानो
 कोई सांप की कैंचुली सांप के घर में निश्चेष्ट पड़ी हुई सो रही हो,
 जो दूरसे सर्प सी दीखती हो परन्तु सर्प का कोई भी काम न करती
 हो । ठीक इसी प्रकार वह महात्मा भी इस शरीर में प्रारब्धभोग-
 पर्यन्त निश्चेष्ट होकर पड़ा रहता है । प्रारब्धरूपी वायु के झोंके से कैंचुली
 के समान कभी कभी हिल तो लेता है, परन्तु मनोराज्य के लिये कभी
 भी किसी वृथोद्योग को प्रारम्भ नहीं करता । हे जनक ! तुम उसे एक
 विना हड्डियों का पुतला ही समझलो । विना हड्डियों का मांसपिण्ड
 जिस प्रकार हिल चल नहीं सकता इसी प्रकार उस के व्यापार भी
 बन्द होजाते हैं । हड्डियों से बने इस मांसपिण्ड पर उसे अभिमान नहीं
 रहता । जिस प्रकार कङ्कु आने पर पेड़ फलने लगते हैं इसी प्रकार
 प्रारब्धरूपी कङ्कु के आने पर उस के शरीर से स्वभावतः थोड़ी बहुत
 क्रिया हो जाती है । परन्तु उन क्रियाओं पर उसे किसी प्रकार का अभि-
 मान नहीं होता कि अमुक क्रियायें मेरे द्वारा निपच्च हुई हैं । इसी

अर्थ को बताने वाले उक्त दो श्लोक हैं । तुषुम्ना नामका एक वड़ा ही सूक्ष्ममार्ग है । जिसे मार्गों में सर्वोत्तम मार्ग माना गया है । यानवल्क्य कहते हैं कि पहले तो मुझे गुरु के मुख से उस का ज्ञान हुआ था । फिर मैंने स्वयं भी उस मार्ग में चलने का पूर्णाभ्यास किया । आजकल के ब्रह्मज्ञानी लोग भी इस प्रपञ्च से छूटकर उसी मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र नामक स्वर्गलोक को प्राप्त हो जाते हैं—जिस में अनेक वणों वाली अनेक नाडियां विद्यमान हैं । मुझ से पहले ब्रह्मा भी इसी मार्ग से होकर गया है । कोई सुकृती ब्रह्मज्ञानी ही तैजस वन कर इस मार्ग से यात्रा किया करता है ।

(जीवन्मुक्ति)

प्रापद्यद्विश्वमात्मेत्ययमिह पुरुषः शोकमोहाद्वतीतः ।
शुक्रं ब्रह्माध्यगच्छत्स खलु सकलवित्सर्वसिद्ध्यास्पदं हि ।
विस्मृत्य स्थूलसूक्ष्मप्रभृतिवपुरसौ सर्वसंकल्पशून्यो
जीवन्मुक्तस्तुरीयं पदमधिगतवान् पुण्यपापैर्विहीनः ॥४४॥

यह जीवन्मुक्त महात्मा (प्रारब्धभोगपर्यन्त) इस देह में रहकर भी इस विश्व को ही अपना आत्मा समझा करता है (वह फिर इस विश्व को विश्वाकार से देखने का आत्मद्रोह कभी नहीं करता । किन्तु इस को सदा आत्मरूप से ही देखा करता है । जौहरी जिस प्रकार गहनों को छोड़ कर सोने पर दृष्टि रखता है इसी प्रकार वह भी इस विश्व के जनक आत्मदेव पर ही अपनी परमोदार दृष्टि डाला करता है) यही कारण है कि जीवन्मुक्तों को शोकमोहादि का बन्धन नहीं लगता (क्योंकि उन की दृष्टि में जिस का शोक किया जाय तथा जिस पर मोह करना हो वह भी तो उन का आत्मा ही होता है । फिर तो वह शोक और मोह के भ्रमपूर्ण दिखावे में कभी नहीं पड़ता) वह महात्मा साक्षात् हिरण्यगर्भ और सकलवित् (सर्वज्ञ) हो जाता है । अणिमादि

आठों सिद्धियें द्वाध वांध कर उसकी आशा की प्रतीक्षा किया करती हैं । वे लोग तो इस स्थूल तथा रुक्ष आदि सब प्रकार के शरीरों को (सुपुत्रि के समान ही) भूले रहते हैं । फिर तो उन्हें किसी प्रकार का भी संकल्प नहीं उठता । वे सदा ही चतुर्थ आत्मतत्त्व का उपभोग लेले कर तुनिदल हुए रहते हैं । यही कारण है कि फिर उन पर पुण्य पाप का लेप कभी नहीं चढ़ता ।

यस्मिन् सर्वोणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः तत्र को मोहः
कः शोक एकत्वमनुपश्यतः । स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्ताविरं
शुद्धमपापविद्धम् (ईशावास्य) ज्ञाननामक जिस सौभाग्यकाल के
आजाने पर ज्ञानी मुनि की व्यष्टि में ये सकल भूत उस के आत्मा ही
होजाते हैं, जब वह प्रत्येक वस्तु को ब्रह्मरूप देखने लगता है, तो वहाओं
कि फिर उस समय मोह अथवा अज्ञान क्या रहा ? और अज्ञान से उत्पन्न
होने वाला शोक क्या हुआ ? क्योंकि वह तो अब पूर्ण ज्ञानी हो चुका
है । उसे तो अब अभेद (अथवा एकत्व) की गुप्त वार्ता का रहस्य
मालूम हो चुका है । उसने तो अब अपनी एकत्वभावना के प्रभाव से
सब ही को जान लिया है । संक्षेप में यों ही कहो कि इस जीवन्मुक्त ने
तो शुक्र ब्रह्म अर्थात् हिरण्यगर्भ के स्वरूप को प्राप्त कर लिया है । जिस
प्रकार इस समस्त ब्रह्माण्ड में अहंभाव रखने वाला किंवा इस समस्त
विश्व को आत्मरूप देखने वाला हिरण्यगर्भ इसके किसी व्यष्टि के मोह
अथवा शोक में नहीं पड़ता, इसी प्रकार वह भी किसी का शोक या मोह
नहीं करता । उस जीवन्मुक्त को तो पाप नामक अहङ्कार से रहित
अपना शुद्ध रूप ही प्राप्त होजाता है । नस नाड़ियों से बने हुए इस
स्थूल देह में से बाहर निकल कर वह व्यापक ही चुकता है । लिङ्ग देह
में से भी वह कूच कर जाता है । यो वह तो सदा ही महाकारण चतुर्थ
देह में रहने लगता है । ऐसे चतुर्थ देह में रहने वाले महात्मा को ही
जीवन्मुक्त समझा करो । मुमुक्षु लोगों को ऐसी ही अवस्था को प्राप्त

करने का उद्योग करना चाहिये । उन की इन मुनमान शान्ति को ही जीवन्मुक्ति का महोत्सव कहा जाता है ।

(ऋग्वेद में जीवन्मुक्ति की परिस्थिति)

यः सत्त्वाकारवृत्तौ प्रतिफलति युवा देहमात्रावृतोपि
तद्वर्मेवार्लयवाद्वर्चादिभिरसुपहतः प्राण आर्चिर्भृत् ।
श्रेयान् साध्यस्तमेतं सुनिपुणमतयः सत्यसङ्कल्पभाजो
ह्यभ्यासादेवयन्तः परिणतमनसा साक्षमूर्ध्वं नयन्ति ॥४५॥

जो आत्मा सत्त्वाकारवृत्ति में प्रतिविमित हो जाता है, वही जीव कहाने लगता है । देहों से आवृत हो जाने पर भी वह देह के बाल्य यौवन तथा वार्धक्य आदि धर्मों से परिवर्तित नहीं होता । वह सदा ही श्रेयान् अर्थात् कल्याणस्य बना रहता है । उस को उसकी उत्तम गति को प्राप्त करा देना चाहिये । सत्यनामक ग्रन्थ में ही सदा अपनी मनोगति रखने वाले जो कुशलमति जीवन्मुक्ति लोग हैं वे ज्ञानयोग के अभ्यास (की महिमा) से देवभाव को प्राप्त करने की इच्छा के कारण, निःसंकल्प मन को भी साथ लेकर, इस प्राण नामक जीव को ऊपर उठा लेते हैं । अर्थात् अपने प्राण और मन को नुपुणादार मे सदा ही व्रह्मरन्ध्र में चढ़ाये रहते हैं ।

ऋग्वेद में कहा है ' युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः । तं धीरासः कवच उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः । जिस युवा नामक मुख्य प्राण पर देह के शाल्य वार्धक्य आदि धर्मों का प्रभाव कभी नहीं पड़ता, वह मुख्य प्राण अन्तः-करण की सत्त्वाकार वृत्ति में प्रतिफलित (प्रतिविमित) हो कर शरीर की कल्पित ओढ़नी को ओढ़ कर ही इस संसार में जीवभाव को प्राप्त होकर आगया है इस में संदाय मत करो, तुम हसे एक निश्चित तत्त्व ही समझलो । वह उत्पन्न होते ही स्वभाव से तत्कर्मों में निरत हो जाता

है । वडे दृढ़त्री क्रान्तदर्शीं ज्ञानी लोग देवभाव को पाने की शुभ इच्छा से प्रेरित होकर उस मुख्य प्राण तथा मन को कभी भी विप्यारण्य में पर्यटन करने नहीं देते । वे तो सदा ही सुपुम्नानामक मोक्षमार्ग से उन (अपने प्राण तथा मन) को ब्रह्मरन्ध्र में बैठाये रहते हैं । वे लोग वहाँ की लोकोत्तर दीतिलता में से निकाल कर अपने प्राण तथा मन को तीव्र विप्याङ्गारों से भरी हुई इस संसार रूपी रसोई में झुलसने के लिये कभी नहीं निकलने देते ।

(निर्वाणमुक्ति या विदेहमुक्ति)

प्रायोऽकामोऽस्तकामो निरतिशयसुखायात्मकामस्तदासौ
तत्प्राप्नावासकामः स्थितचरमदश स्तस्य देहावसाने ।
प्राणा नैवोत्क्रमन्ति क्रमविरतिमिताः स्वस्वहेतौ तदानीं
कायं जीवो विलीनो लवणमिव जलेऽखण्ड आत्मैव पश्चात् ॥४६॥

ऊपर कहे हुए जीवन्मुक्त महात्मा लोग प्रायः करके सदा अकाम ही रहने लगते हैं (क्योंकि उन का मन आत्माकार हुआ रहता है) उन की कामनाओं का सर्वथा अस्त हो जाता है । परन्तु वे जीवन्मुक्त महात्मा लोग निरतिशय सुख अथवा परमानन्द का भोग लेने के लिये कभी कभी अपने आत्मा की ही कामना कर लेते हैं । ज्यों ही उनके मानस-नेत्रों के सामने आत्मा की सूरत स्थित जाती है तो वे तुरन्त ही आत्माम बन बैठते हैं । ऐसी दिव्य आत्मामता का जब किसी अधिकारी में प्रादुर्भाव हो जाता है तो समझलो कि अब वह जीवन्मुक्ति की अन्तिम अवस्था को प्राप्त हो चुका है । (इस पावनी अवस्था से प्रभावित होकर वे जीवन्मुक्त लोग इस शरीर को अब जल ग्रहण करना भी भूलजाते हैं तब तो उनका यह शरीर नष्ट हो जाता है । यों उस जीवन्मुक्त का देहावसान होते ही उसे विदेहमुक्ति का परमपद मिल जाता है । फिर तो वह दशातीत अवस्था को पा लेता है । क्योंकि

दद्मा की यूनना देने वाले प्राणादि फिर उस के साथ साथ नहीं चलते । दूसरे देह तक चलने का सामर्थ्य उस के प्राणों में (इन्द्रियों) नहीं रहता । वे तो क्रम से अपने अपने कारणों में (ज्ञान दर्श में मन चन्द्रमा में इत्यादि प्रकार से) लीन हो जाते हैं । (उस समय की गम्भीर अवस्था का सम्पूर्ण घर्णन कैसे किया जाय ? अनन्त के अनन्त में मिलने के महोत्सव को क्योंकर दिखाया जाय ?) भला धताओं तो सही कि उस समय उनका वह जीवभाव कहां रह गया है ? वह विचारा तो जल में लवण के समान सदा के लिये विलीन हो जुका है । लवण तुल कर जिस प्रकार जल ही जल रह जाता है इसी प्रकार इन उपाधियों के नष्ट होते ही एक अखण्ड आत्मा ही आत्मा वहां रह गया है । (इन उपाधियों के नष्ट हो जाने से अब तो कहीं उस के जीवभाव का खोज ही हाथ नहीं आता । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' यह जीव पहले भी ब्रह्म ही था, मध्य में कुछ काल के लिये उसे जीवल्लभी भ्रम हो गया था, शान की महिमा से अब वह फिर भी ब्रह्मभाव को ग्रात हो गया है । मानो उन्हें का भूला सायंकाल को फिर अपने ही घर आ वैठा है ।)

(विदेहमुक्ति के पश्चात् उस का लिङ्गशरीर छिन्न भिन्न होकर अपने अपने कारणों में वापिस चला जाता है)

पिण्डीभूतं यदन्तर्जलनिधिसलिलं याति तत्सैन्धवार्ह्यं
भूयः प्राक्षितमस्मिन् विलयमुपगतं नामरूपे जहाति ।
प्राज्ञ स्तद्वत्परात्मन्यथ भजति लयं तस्य चेतो हिमांशौ
वागश्चौ चक्षुरकें पर्यसि पुनरसृग्रेतसी दिसु कणां ॥४७॥

समुद्र के खारी जल को जब नमक बनाने वाले लोग उल्ला कर पिण्ड बनालेते हैं तो उसी का लवण नाम रख दिया जाता है । परन्तु जब कि उस लवणखण्ड को फिर समुद्र में कौंक दिया जाता है तो उस का वह नाम और रूप कुछ भी नहीं रहता । (वृहदारण्यक २-४-२१)

इसी प्रकार यह प्राण भी परमात्मा में से उत्पन्न हो जाता है, जब कोई ज्ञानी वेधइक होकर, ज्ञान समुद्र में कूद पड़ता है तो उस का जीवभाव उसी में शुल जाता है—लीन हो जाता है। उस समय उसका चित्त चन्द्रमा में, उस की वाणी अग्नि में, उस के चक्षु सूर्य में, रक्त और वीर्य जल में, तथा उस के कान दिशाओं में विलीन हो जाते हैं (वृहदारण्यक ३ २-१३) और उस का लिङ्गशरीरलूपी महाप्राण सदा के लिये छिन्न भिन्न हो जाता है।

(इन त्रियमाण संसार में जो अमर चीज़ है वही ब्रह्म है, उस तत्त्व से भिन्न सभी कुछ विनाशी है)

क्षीरान्तर्यद्वदाज्यं मधुरिमविदितं तत्पृथग्भूतमस्मा-
द्वैतेषु ब्रह्म तद्वद्यवहृतिविदितं श्रान्तविश्रान्तिवीजम् ।
यं लब्ध्वा लाभमन्यं तुणमिव मनुते यत्र नोदेति भीतिः
सान्द्रानन्दं यदन्तः स्फुरति तदमृतं विद्वयतो ह्यन्यदार्तम् ॥४८

दूध की मधुरिमा से पहचाना हुआ मालन यद्यपि दूध के अन्दर छिपा रहता है परन्तु वह उस से पृथक् ही रहता है। इसी प्रकार इस चलने वाले जगद्वयवहार से पहचाना जाने वाला, श्रान्त लोगों को विश्रान्ति देने का मुख्य कारण ब्रह्म, यद्यपि भूतों के अन्दर समा रहा है तो भी वह उनसे भिन्न ही है। जिस ब्रह्मलूपी महालाभ को पा लेने पर ग्राणी दूसरे लौकिक क्षुद्र लाभों को तृण के समान उदास भाव से देखने लगते हैं (अद्वैतभाव होने के कारण) जिस ब्रह्म में भय नाम की अनिष्ट अवस्था कभी भी उत्पन्न नहीं होती, सुपुत्रि के समय जब कि इस स्थूल सूक्ष्म प्रपञ्च का लय हो जाता है और यह मन आत्माकार हो जाता है, तब जिस एक सान्द्रानन्द (धनानन्द) बख्त ही स्फूर्ति होती है ब्रह्मनामक उसी तत्त्व को तुम एक अमर पदार्थ समझ लो । इस आत्मतत्त्व के अतिरिक्त (और किसी भी पदार्थ को उठा देखो, वह तो)

सब ही आर्त अर्थात् विनाशी है (उस का किसी उत्तर क्षण में ही वाध हो जाने वाला है) ।

भावार्थ यह है कि यद्यपि यह दुर्घ जलरूप ही है परन्तु इस में जो जल से विलक्षण मधुरिमा पायी जाती हैं वह उस में छिपे हुए मालन की ही होती है इसी प्रकार यह असदूप जड़ देह भी जो कि चलने फिरने आदि व्यवहारों को करने लगता है तथा ये जड़ इन्द्रियें भी विषयों का प्रकाश करने लगती हैं तो यह सब आत्मा के ही कारण से होता है शरीर से नहीं । क्योंकि आत्मविहीन मृत शरीर में यह सब कुछ देखा नहीं जाता (देखो वृहदारण्यक ३-७-२ से २३ तक)

(सब प्रपञ्च ब्रह्म में ही ओत प्रोत है । वस्त्र का तत्त्वज्ञान करें तो जैसे सूत्र ही शेष रहजाता है ऐसे ही इस प्रपञ्च के तत्त्व की जिज्ञासा करें तो अन्त में ब्रह्म ही शेष रह जायगा)

ओतः प्रोतश्च तन्तुष्विह विततपट श्विवर्णेषु चित्र-
स्तस्मिन्निज्ञास्यमाने ननु भवति पटः सूत्रमात्रावशेषः ।
तद्विश्वं विचित्रं नगनगरनरग्रामपश्चादिरूपं
प्रोतं वैराजरूपे स वियति तदपि ब्रह्मणि प्रोतमोत्तम् ॥४९॥

किसी लम्बे बहुरंगे थान को लेलो वह अपने बहुरंगे तन्तुओं में ही ओत प्रोत हुआ है । किसी सादे थान को पकड़ लो वह अपने सादे तन्तुओं में ही ओत प्रोत हुआ रहता है । यदि हम उस पट के सत्यरूप को जानना चाहें तो यही सिद्ध होता है कि वह केवल सूत्र के रूप में हमारे सामने रह जाता है । (वह पट अपने ताने में ओत है तथा बाने में प्रोत हो रहा है । ऐसे एक किसी पराश्रित पदार्थ को हम ‘पट’ कहने लगते हैं । अपने अन्तरालमा से पूछो कि सूत्रों के अतिरिक्त और कौन सी वस्तु त्रुम्हें वहां पर अनुभव में आती है) ठीक इसी प्रकार पर्वत नगर मनुष्य ग्राम तथा पश्च आदि विचित्र विचित्र वस्तुयें वैराज-

स्वप्न ब्रह्माण्ड शरीर में ओत प्रोत हो रही हैं, वह वैराज भी आकाश में ओत प्रोत हो रहा है, वह आकाश भी अन्त में ब्रह्म तत्त्व में ओत प्रोत हो रहा है।

वह ब्रह्म ही एक अक्षर वस्तु इस संसार में विराज रही है। उस में अणु महत् दीर्घ तथा हस्त ये कोई भी परिमाण नहीं हैं, लोहितादि कोई भी वर्ण उस में नहीं होते, चिकनाई भी उस में नहीं पायी जाती, उस की छाया अर्थात् शूर्ति भी नहीं है, भावरूपी अज्ञान अथवा माया से भी वह परे है, वायु और आकाश से भी वह रहित है, वह सर्वथा असंग है, उस को स्वर्ण नहीं किया जा सकता, गन्ध और रस भी उस में नहीं हैं, चक्षु श्रोत्र वाणी और मन नामक इन्द्रिये भी उस में नहीं हैं, इन्द्रियों का अधिनैदेवरूप तेज भी वह नहीं है, इन्द्रियों को चलाने वाला प्राण भी उसे नहीं कह सकते, मुख भी उस के नहीं पाया जाता, नाम और गोत्र भी उस का कुछ नहीं होता, जरा भी उसे नहीं आती, मरने के प्रसंग को भी वह कभी नहीं देखता, दूसरा न होने से उसे कभी ढरना नहीं पड़ता, वह सदा अभय रहता है, वह सदा ही मुक्त-स्वभाव है, रज (अर्थात् गुणों) का संपर्क भी उस में नहीं होता, इसी से वह लोकातीत बना रहता है, शब्द के बोलते ही वह किसी के सामने उपस्थित नहीं हो जाता, अथवा शब्दों की पुकार उस तक नहीं पहुंचती, कोई भी शब्द उसके स्वरूप का निरूपण नहीं कर सकता, तत्त्वदृष्टि से देखो तो उसका विवर्त भी आजतक नहीं हो पाया, गम्भीर विचार करो तो इतनी खटपट के बाद भी, इतना प्रपञ्च हो जाने के पश्चात् भी, वह अभी तक ढका नहीं जासका है, जिस से पहला कोई भी नहीं है, जिस से दूसरा भी कोई नहीं दीखता, जिस के अन्दर भी कोई अन्य नहीं है, जिसका बाह्य आवरण भी आज तक शात नहीं होसका है, ऐसी जो एक महावस्तु है असंग तथा उदासीन होने के कारण जो कभी किसी को स्वीकार ही नहीं करती, तथा अग्राह्य होने से और भी कोई जिस को

चरान नहीं कर सकता, उसी की रुम ३५५ नम्बर का सब नम्बर हो
(बृहदार्थ्यक ३-८-८)

(आत्मा एक ही वही उद्दिष्टों में प्रतिविनियत हो कर जीव-
भाव को पाजाता है)

स्पं ह्यं प्रतीदं प्रतिफलनवयात् प्रानिल्प्यं प्रेषंदं
सेको द्रष्टा द्वितीयो भवति च सलिलं सर्वतोऽनन्तरूपः ।
इन्द्रो मायाभिरास्ते श्रुतिरिति वदति व्यापकं व्रतं तस्मा-
जीवत्वं यात्यकस्मादतिविमलतरं विम्बितं तु द्वयाधौ ॥५०

यह अप्रत्यक्ष प्रतिविनियत हो जाने के कारण उत्तर रूप में दैना
देवता ही बन गया है। यह एक ही आनन्दनव प्रत्येक वर्गार्थ में प्रतिवि-
नियत होकर अनेकता बन गया है। सलिले एको द्रष्टा द्वितीयो भवति।
देवता लो कि जलनसी उपाधि के जानने अगे ही एक ही द्रष्टा द्वितीयो भवति।
जानता है। इन्द्रनामक परमात्मा ने माया के कारण नवार्थः अवगतिवल्ल पारण
कर लिये हैं (इन्द्रो मायाभिः पुरुषूप ईद्यते जाता है कारण वह एक
ही इन्द्र वहुलं होजाता है) यों जनेन श्रुतिर्ये व्रतं सोही सर्वत्र व्यापक
वता रही हैं। यह व्रत दी न जाने क्यों अत्यन्त रक्षण उद्दिष्ट आदि
उपाधियों में प्रतिविनियत हो कर जीव बन दैठता है।

उनके जीव बनने की यात समस में नहीं आती। क्योंकि जीव को होने
वाले सुख और दुःख के भोग क्या हैं? अनादिकाल से आजतक जितने सुख
दुःख हमने भोगे हैं उनकी अव कौनसी सूक्ष्मि हममें रह गयी है—उनका
तो होना न होना एकसा ही है। आगामी तुल्यो और दुःखो का भी
वही हाल होजाना है। किर हम नहीं समझते कि जीव बनने में कौनसा
उद्देश्य सामने रहा होगा। इसी प्रयोजनाभाव को देख कर जानी लोग इन
कंचार को मायामात्र कहते हैं। यह सब नाया का ही खेल है। अन्यथा
इस का कोई स्थायी प्रयोजन क्यों है? इष्टोचर नहीं होता?

(जैसी उपाधि होती है व्रहा भी उस जैसा ही भासने लगता है)

तज्ज्ञाः पश्यन्ति बुद्ध्या परमबलवतो माययात्कं पतंगं
बुद्धावन्तः समुद्रे प्रतिफलितमरीच्यास्पदं वेधसस्तम् ।
यादग्यावानुपाधिः प्रतिफलति तथा व्रहा तस्मिन्यथास्यं
ग्रासादर्शानुरूपं प्रतिफलति यथावस्थितं सत्सदैव ॥५१॥

उस जीव को पहचानने वाले, शास्त्र के मर्मज्ञ लोग अपनी बुद्धि से जानते हैं कि बुद्धि नामक समुद्र के अन्दर परमात्मा की जो किरणें प्रतिविम्बित हो गयी हैं वही जीवका यथार्थ स्वरूप है । परन्तु वह परम बलवान् वेधस अर्थात् द्विरण्यगर्भ की माया से व्याप्त हो रहा है (किंवा मायामोहित हो गया है) वह बुद्धिरूपी उपाधि जिस रूप की और जितनी होती है उस में उसी परिमाण से व्रहा का प्रतिफलन (प्रतिविम्ब) हो जाता है । (तात्पर्य यह है कि वह व्रहा, सत्त्वमय रजोमय तमोमय जिस प्रकार की तथा स्थूल सूक्ष्म दीर्घादि जितने परिमाण की उस की उपाधि होती है उस में उस के अनुरूप ही प्रतिफलित हो जाता है) जिस प्रकार कि हमारा मुख सामने आये आदर्श के अनुरूप ही प्रतिफलित हो जाता है (वह दीर्घ स्थूल लघु मलिन अथवा शुद्ध जैसा भी हो हमारा मुख भी उस के अनुरूप दीर्घ स्थूल लघु मलिन तथा शुद्ध हो जाता है) परन्तु उस मुख में स्वतः कोई भी परिवर्तन नहीं आता । वह तो स्वयं पहले की तरह स्थित रहता है । ऐसी ही अपरिवर्तनीय अवस्था व्रहा की भी समझ लो ।

यही बात वेद में कही गयी है “पतंगमक्तं मसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः । समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः । जिस का तात्पर्य यही है जिस की माया का पार नहीं पाता, ऐसे असुर परमात्मा की माया से मोहित हो कर संसार में फिसल पड़ने वाले इस जीव को, विवेकी लोग अपने मन

की सूक्ष्म वृत्तियों से पहचानते हैं कि वह विचारा बुद्धिरूपी समुद्र में डूबा पड़ा है। वे कवि लोग उस बुद्धि में प्रतिविभित, परमात्मा की जो चित्तस्वरूप किरण है उस को पाने का स्थान भी उसी बुद्धि को बताते हैं। वे लोग स्वयं भी वहाँ उस की उपासना करते हैं।

(उपाधियों में व्रह्म की प्रतीति हो तो रही है परन्तु वह व्रह्मतत्व उपाधि के धर्मों से अद्वृता ही रहता है)

एको भानुस्तदर्थप्रातिफलनवशाद्यस्त्वनेकोदकान्त-
र्नानात्वं यात्युपाधिस्थितिगतिसमतां चापि तद्वत्परात्मा ।
भूतेषुच्चावचेषु प्रतिफलित इवाभाति तावत्स्वभावा-
वच्छिन्नो यः परन्तु स्फुटमनुपहतो भाति तावत्स्वभावैः ॥५२

भानु यद्यपि एक ही है परन्तु वह उन उन अनेक पदार्थों के मध्य में प्रतिविभित हो कर नाना भी हो जाता है तथा उन उपाधियों की स्थिति और गति की समता को भी प्राप्त होने लगता है। ठीक इसी प्रकार परमात्मा भी उच्चावच भूतों में प्रतिविभित सा होकर उन उन के स्वभाव से अवच्छिन्न सा हो जाता है। परन्तु वस्तुस्थिति तो यह है कि वे कोई भी स्वभाव उस में अभी तक किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सके हैं। ज्ञानी लोगों को वह सदा अपनी अनुपहत दशा में ही दर्शन दिया करता है।

(चन्द्रमा में स्वयं चमक नहीं है उसे सूरज से मिलती है, बुद्धि में भी जीवनज्योति नहीं है इसे आत्मा से मिली है। बुद्धि को मिली हुई वही उधारी चमक इन्द्रिय द्वारों में को हो होकर विषयों को ग्रहण करती रहती है)

यद्वत्पीयुपरश्मौ दिनकरकिरणै र्विम्बितैरेति सान्द्रं
नाशं नैशं तमिस्तं गृहगतमथवा मूर्छितं कांस्यपात्रे ।

तद्वदुद्गौ परात्मद्वितिभिरनुपदं विमित्ताभिः समन्ता-
ज्ञासन्ते हीन्द्रियास्यप्रसृतिभिरनिशं रूपमुख्याः पदार्थाः ॥

विस प्रकार चन्द्रमा में प्रतिविमित हुए सूर्य की किरणों से रात्रि का धोगान्धकार नष्ट हो जाता है, अथवा कामे के पात्र में पड़ी हुई सूर्य की किरणों से (जब वे लौट कर घर में पहुँचती हैं तो) घर का अन्धकार नष्ट हो जाता है, ठीक इसी प्रकार बुद्धि में प्रतिविमित परमात्मा की जो चिद्रूप किरणें हैं उन से स्परसादि सम्पूर्ण पदार्थ प्रतीत हुआ करते हैं, जब कि वे किरणें इन्द्रियरूपी नालियों में होकर बाहर फैला करती हैं ।

(पूर्णात्मा और अवचिन्त्व आत्मा जब मिल जैठते हैं तो अविद्या अपने सम्पूर्ण परिचार सहित मर जाती है)

पूर्णात्मानात्मभेदा त्विविधमिह परं बुद्ध्यवच्छन्नमन्य-
रत्रैवाभासमात्रं गगनमिव जले त्रिप्रकारं विभाति ।
अम्भोवच्छन्नमस्मिन् ग्रतिफलितमदः पाथसोऽन्तर्वाहिश्च
पूर्णावच्छन्नयोगे व्रजति लयमविद्या स्वकार्येः सहैव ॥५४॥

इस उपाधि में ही तीन प्रकार का ब्रह्म प्रतीत होता है—एक पूर्ण दूसरा आत्मा तथा तीसरा अनात्मा । पर अर्थात् उपाधि के अन्दर बाहर रहने वाला 'पूर्ण' कहाता है, बुद्धि से युक्त किंवा बुद्ध्यवच्छन्न को 'आत्मा' कहा जाता है, तीसरा तो उस बुद्धि में पड़ा हुआ आभास किंवा प्रतिविम्ब ही है (वह तो स्वभाव से ही अनात्मा है) । उदाहरण के रूप में आकाश भी ठीक इसी प्रकार तीन प्रकार का देखा जाता है—एक तो जल से आवृत आकाश, दूसरा उस जल में प्रतिविम्बिन आकाश तथा तीसरा उस जल (से पृथक् परन्तु उस जल) के अन्दर और बाहर रहने वाला महाकाश कहाता है । पूर्ण और अवचिन्त्व का योग (जब किसी अधिकारी को यह ज्ञान हो जाय कि यह पूर्ण आत्मतत्व तथा यह बुद्धि से अवचिन्त्व आत्मतत्व दोनों एक ही हैं तो यही पूर्ण और

अवच्छिन्न आत्माओं का योग होना कहा जाता है) जब हो जाता है तब उस की उपाधि अविद्या अपने (प्रतिविम्ब आदि) कार्यों को भी साथ लेकर नष्ट होजाती है । तात्पर्य यह है कि अधिष्ठान का साक्षात्कार हो जाने पर आमास नष्ट हो जाता है ।

(सूत्रस्म ब्रह्म से ही यह जगद्व्यवहार हो रहा है । दीखने वाला यह स्त्रीपुरुषभेद वास्तविक नहीं है)

दृश्यन्ते दारुनार्यो युगपदगणिताः स्तम्भसूत्रप्रशुक्ताः
संगीतं दर्शयन्त्यो व्यवहृतिसपरां लोकसिद्धां च सर्वाम् ।
सर्वत्रानुप्रविष्टादभिनवविभवा धावदर्थानुवन्धात्-
तद्वत्सूत्रात्मसंज्ञा द्वयवहरति जगद्भुवःस्वर्महोन्तम् ॥५५

देखते हैं कि बहुत सी अचेतन कठपुतलियें स्तम्भसूत्र से प्रेरित होकर संगीत भी गाती हैं और भी लोकप्रसिद्ध सारे व्यवहार दिखाती हैं (कभी महायुद्ध करती हैं , कभी शत्रु पकड़ कर लड़ती हैं , कभी मृगया करने लगती हैं) ठीक इसी प्रकार सर्वत्र अनुप्रविष्ट हुए परमात्मा के अनुग्रह से—जिसे सूत्रात्मा भी कहते हैं , जिसका सामर्थ्य बड़ा ही अतर्क्य है , प्रयोजन के अनुसार ही जिसका अर्थों के साथ सम्बन्ध हुआ रहता है , जिसका प्रत्येक काम वडे नियम से चल रहा है—यह भूलोंक , भुवलोंक , रवलोंक तथा महलोंकपर्यन्त सम्पूर्ण जगत् अपना अपना व्यवहार करने में समर्थ हो रहा है । फिर भले ही लोक में हाड़ मांस के बहुत से स्त्रीपुरुषदेह ही व्यवहार करते दीख पड़ते हों इन सब व्यवहारों का भूल कारण तो वह सूत्रात्मा ही है । वृद्धारण्यक ३-७-२

ऋग्वेद में कहा है कि—स्त्रियः सती स्तां उ मे पुंस आहुः पद्यदक्षणवान्नविचेतदन्धः कर्वियः पुत्रः स ईमाचिके तयस्ता विजानात्स पितुः पितासत् । जिन को मायामोहित

लौकिक प्राणी, स्त्रियें समझते हैं शानी लोग उन्हीं को मुझे पुरुप बताते हैं। उनके दैता बताने का कारण यह है कि यह आत्मा जिस जिस शरीर को धारण कर लेता है उसी उस नाम से कहाने लगता है। असल में न तो यह 'स्त्री' ही है और न यह 'पुरुप' ही है। ('त्वं स्त्री त्वं पुमा-नसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' 'नैव स्त्री न पुमानेप न चैवायं नपुंसकः यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन तथोच्यते')। जीव में स्त्रीत्व अथवा पुरुत्व कुछ भी नहीं है यह तो जैसे जैसे शरीरों को धारण कर लेता है उसी के अनुसार स्त्री अथवा पुरुप कहाने लगता है। परन्तु यह अत्यन्त निगृद तात्त्विक अर्थ किसी ऐसे ही महापुरुप के ध्यान में आता है जिस का शानदारी तृतीय नेत्र खुल चुका हो। चर्मचक्षुओं से ही किसी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने वाले अन्धे लोग इस महायाता को नहीं पहचान सकते, कभी नहीं पहचान सकते। जो कोई कवि (क्रान्तदद्वारा) हो फिर चाहे वह थोड़ी अवस्था का वालक ही क्यों न हो, इस तत्व को पहचान जाता है 'कि यह आत्मतत्व किस प्रकार से स्त्री और पुरुप बना करता है' तो उसे अपने अज्ञानी पिता का भी पिता (अर्थात् पूजनीय) समझो।

(सच्चा सत्य यह आत्मा ही है दूसरे पदार्थ तो गौण सत्य हैं)

तत्सत्यं यत्त्रिकालेष्वनुपहतमदः प्राणदिग्ब्योममुख्यं
यस्मिन् विश्रान्तमास्ते तदिह निगदितं ब्रह्म सत्यस्य सत्यम्।
नास्त्यन्यत्किं च यद्वत्परमधिकमतो नाम सत्यस्य सत्यं
सच्चत्यच्चेति मूर्ताद्युपहितमवरं सत्यमस्यापि सत्यम् ॥५६॥

प्राण दिशा व्योम तथा कालादि जिनका त्रिकाल में भी कभी उपधात नहीं होता, जो सदा ही बने रहते हैं वे 'सत्य' कहाते हैं, परन्तु ये सब सत्य कहाने वाले पदार्थ भी जिस महातत्व में विश्राम लेरहे हैं, उस ब्रह्म को 'सत्य का भी सत्य' कहा गया है, अथवा जिस ब्रह्म की अपेक्षा

और कोई भी सत्य कहाने वाला उल्कुष्ट तत्व नहीं है इस ने वह व्रत ही 'सत्य का सत्य' कहाने के योग्य है । पृथिवी जल तथा तेज को सत् अर्थात् मूर्त कहा जाता है, वायु तथा आकाश को त्यत् अर्थात् अमूर्त कहते हैं । इन मूर्त तथा अमूर्त पदार्थों ने जिस का आश्रय ले रखा है, जो इन से उपहित हो रहा है, जिस को अवर (किंवा शब्दल व्रह) भी कहा जाता है व्रह तो इस (शब्दल व्रह) का भी सत्य है (तात्पर्य यह है कि मुख्य सत्य पदार्थ व्रह ही है और मैं आपेक्षिक सत्यता रहती है ।)

(यह जगत् तभी तक सत्य प्रतीत होता है जब तक कि इसके सत्य [व्रह] का परिज्ञान किसी को नहीं हो जाता)

यत्किञ्चिद्द्वात्यसत्यं व्यवहृतिविप्ये रौप्यसर्पाम्बुमुख्यं
तद्वै सत्याश्रयेणेत्ययंमिह नियमः सावधिर्लोकसिद्धः ।
तद्वित्सत्यस्य सत्ये जगदखिलमिदं व्रहणि प्राविरासी-
न्मिथ्याभूतं प्रतीतं भवति खलु यतस्तच्च सत्यं वदन्ति ॥५७॥

लोक में व्यवहार करते समय (व्यवहार के पदार्थों में) जो कि शुक्लरजत, रज्जुसर्प, अथवा मरुजलादि असत्य पदार्थ प्रतीत हो जाते हैं वे भी सत्य का आश्रय लेकर ही तो प्रतीत हुआ करते हैं । (इन भ्रमकल्पित रजतादि पदार्थों के अधिकरण शुक्लि आदि पदार्थ व्यावहारिक सत्य पदार्थ होते हैं । क्योंकि उन शुक्लि आदि आधारों के बिना इनका भान नहीं हो सकता ।) सत्य के आश्रय से असत्य की प्रतीति होने का एक सावधि नियम ॥ लोक में देखा जाता है ।

॥ इस नियम को सावधि अर्थात् अवधिशुक्ल कहने का तात्पर्य यह है कि इनके अधिष्ठान का ज्ञान होने पर तो इनका वाध हो जाता है, शुक्लि को पहचान लेने पर जब कि हमें वह ज्ञात हो जाता है कि यह रजत नहीं है तो उसके आश्रय से प्रतीत होनेवाले रजत की वाधा हो ही जाती है । यों प्रत्येक भ्रम की कोई न कोई अवधि होती ही है । इससे

टीक इसी प्रकार व्यावहारिक सत्य पदार्थों का भी कोई न कोई सत्य होना ही चाहिये वही परव्य है । उसी में यह व्यावहारिक जगत् (अज्ञान के कारण) उद्भूत हो गया है (क्योंकि इसके भान होने की भी एक नियमित अवधि पायी जाती है, ब्रह्मदर्शन हो जाने पर इसकी भी वाधा हो जाती है । उस समय यह जगत् भी प्रातिभासिक सिद्ध हो जाता है) अथवा सत्य का संक्षिप्त लक्षण यों समझ लो कि कोई भी मिथ्या पदार्थ जिसके आश्रय से प्रतीत हुआ करते हैं, वही परमार्थ सत्य कहाता है । (ये आकाशादि तभी तक पूर्ण हैं जब तक कि कोई इन सब की अपेक्षा पूर्ण [व्यष्टि] का इर्शन नहीं कर लेता)

यत्राकाशावकाशः कलयति च कलामात्रतां यत्र कालो
यत्रैवाशावसानं वृहदिह हि विराट् पूर्वमर्वागिवास्ते ।
स्मृतं यत्राविरासीन्महदपि महतस्तद्वि पूर्णाच्च पूर्ण
संपूर्णादर्णवादेऽपि भवति यथा पूर्णमेकार्णवाम्भः ॥५८॥

जिनके महान् उदर में आकाश को भी रहने का स्वत्य सा अवकाश मिला हुआ है, जिनमें यह सम्पूर्ण काल अपने आप को एक कलामात्र (एक अत्यन्त छोटा भाग) ही पाता है (जहां पहुंच कर इस अनन्तकाल को यह पता चलता है कि मैं तो इसका एक अत्यन्त क्षुद्र सा भाग हूँ, जिनको देखकर काल का अपने अनन्तपने का वृथाभिमान छूट जाता है) ये अनन्त दिशायें भी जिसमें समाप्त हो जाती हैं, (अर्थात् ये अनन्त दिशायें जिनके एक देश में पड़ी हुई हैं) ऐसे महाकाय विराट् आदि व्रक्ष भी जिनके सामने छोटे से छोटे बन जाते हैं । महान् विराट् से भी महान् हिरण्यगर्भ नाम का सूत्रात्मा जिसमें से

यह कहा जा सकता है कि जब तक किसी असत्य पदार्थ की वाधा नहीं हो जाती तभी तक उस पदार्थ का भान हुआ करता है, जब तक उसका भान हो रहा है तभी तक उसे सत्य कहा जा सकता है ।

उत्पन्न हो जाता है, ऐसा जो एक अन्तिम महान्, पूर्णों से भी पूर्ण तत्व इस संसार में निर्गृह हो कर रहा है, उसी को यथार्थ ब्रह्मतत्व समझ लो । दृष्टान्त के रूप में यों समझो कि जिस प्रकार स्वरूप से परिपूर्ण दीखने वाले अनेक समुद्रों की अपेक्षा सात समुद्रों से मिलकर वने हुए एक समुद्र के जल को 'पूर्ण से भी पूर्ण' कहा जाता है, इसी प्रकार वह ब्रह्म 'पूर्ण से भी पूर्ण' है ।

“पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते” (पूर्ण दो प्रकार के होते हैं एक आपेक्षिक दूसरे स्वतः । जिनकी कोई अवधि होती है [जो किसी मर्यादा से वैधे होते हैं] वे आपेक्षिक पूर्ण कहाते हैं । जिस प्रकार तालाव से झील पूर्ण होती है । झील से समुद्र पूर्ण होता है । इसी प्रकार) यह मूर्त जगत् (पृथिवी, जल तथा अग्नि) पूर्ण (आपेक्षिक पूर्ण) है । इस मूर्त जगत् की अपेक्षा से यह अमूर्त जगत् (वायु तथा आकाश) पूर्ण है । एक पूर्ण से दूसरा पूर्ण अधिक है अर्थात् यह अमूर्त जगत् उस मूर्त जगत् से बहुत अधिक है । सब पूर्ण पदार्थों की केवल पूर्णता को ही लेकर (उनके शेष भाग को छोड़कर) लयचिन्तन के द्वारा उन सबका एकीभाव करने के पश्चात्, एक निरपेक्ष पूर्ण पदार्थ शेष रह जाता है । उसी को पूर्ण से भी पूर्ण अथवा स्वाभाविक पूर्ण पदार्थ कहते हैं ।

(जिसकी सहायता से यह सब जगद्वयवहार चल रहा है वह कोई सर्वान्तर आत्मा अवश्य है)

अन्तः सर्वैषधीनां पृथग्मितरसैर्गन्धवीयैर्विपाकै-
रेकं पाथोदपाथः परिणमति यथा तद्वदेवान्तरात्मा ।
नानाभूतस्यभावैर्वहति वसुमती येन विश्वं पयोदो
वर्षत्युच्चै हुताशः पचति दहति वा येन सर्वान्तरोसौ ॥५९॥
मैथ द्वे वरसा हुआ एक ही जल जब सब औषधियों के उदर में

प्रेय करता है तो यह अनन्त रूपों, अनेक प्रकार के गन्धों, अनुकूल विषों तथा अनन्त निषिद्धों के हाथ में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार यह अन्तरात्मा भी नाना प्रकार के भूतों के स्वभावों को धारण कर लेता है। देखो यह वनुमती इनी के सदारे से इतना बोझ धारण कर रही है (परन्तु वनुमती को इतना पता नहीं है) यह मेघमाला इसी की प्रेरणा से विश्व को जलाशायित फरके नस्यसम्पन्न कर रही है (परन्तु मेघों को यह गुण आत नहीं है) यह अग्नि इनी के उपरूप से प्राणियों के अन्तों को पचाती तथा इन्हनों को भर्तनान् किया करती है (परन्तु अग्नि को स्वयं यह कुछ भी आत नहीं है) यह सब इसी सर्वान्तर्यामी री (युत) प्रेरणा से ही तो हो रहा है।

(आत्मतत्त्व पूर्क ही है इस बात को न समझने से अनन्त बार मरना पड़ेगा)

भूतेष्वात्मानमात्मन्यनुगतमखिलं भूतजातं प्रपश्येत्
प्रायः पाथस्तरङ्गान्वयवदथ चिरं सर्वमात्मैव पश्येत् ।
एकं ब्रह्माद्वितीयं श्रुतिशिरसि मतं ॥ नेह नानास्ति किञ्च-
न्मृत्योरामोति मृत्युं स इह जगदिदं यस्तु नानेव पश्येत् ॥६०॥

विवेकी द्वा प्रकार का अभ्यास करे—प्रथम तो सकल भूतों में एक ही आत्मतत्त्व के अखण्ड दर्शन करने का अभ्यास बढ़ाता रहे। दूसरे सम्पूर्ण भूतों को चिरकाल तक अपने एक ही आत्मा में देखते रहने का प्रयत्न किया करे। अपने मन को यों समझाया करे कि देख, यह संसार जल और तरंग के सम्बन्ध के समान है। एक जल में हजारों तरङ्ग हो जाते हैं तथा सब तरङ्गों में एक ही जल दीखा करता है (जल के अतिरिक्त और कुछ भी पदार्थ वहां प्रतीत नहीं होता।

६४ श्रुतिशिरसि मतं के स्थान पर श्रुतिभिरभिहितं येसा पाठ भी पाया जाता है।

इसी प्रकार एक आत्मा में नाना भूत हो जाते हैं तथा नाना भूतों में एक ही आत्मतत्त्व निवास कर रहा है । उस के अतिरिक्त और कुछ भी सत्य पदार्थ यहाँ नहीं है । यों अपने भेददर्शीं मन को थपक थपक कर सुला दिया करे) यों चिरकाल तक इस सब जगत् को आत्मरूप देखने के अभ्यास को शनैः शनैः वढ़ाता चला जाय (अभ्यास-क्रम के बढ़ते बढ़ते निर्विकल्प समाधि किंवा आत्मा की स्वाभाविक अवस्था का प्रादुर्भाव हो जायगा । इन्हीं सब शुद्धियों के आधार पर वेदान्तों ने एक अद्वितीय व्रह्म को ही सत्य पदार्थ बताया है । वे दृढ़ता के साथ कहते हैं कि इस संसार में नाना नाम की तो कोई बल्कु ही नहीं है । फिर भी जो पासर प्राणी इस संसार में नानाभाव की तलाश करता (किंवा नाना भाव को ही सत्य मानता) है (उसे इस अज्ञान का यही दण्ड मिलता है कि) वह इस अज्ञान (देह में अहंभाव) के कारण बार बार मृत्यु के फन्दे में फँसता रहता है । (उस नानादर्शीं को इस संसार से छुटकारा कभी नहीं मिलता । ईशावास्योपनिषद् मं० ६)

(जगत् के साथ खेल करता हुआ भी आत्मा अपनी सबी अवस्था से तिलमात्र भी उस से मस नहीं होता)

प्राक् पश्चादस्ति कुम्भाद्गनमिदमिति प्रत्यये सत्यपीदं,
कुम्भोत्पत्तावुदेति प्रलयमुपगते नश्यतीत्यन्यदेशम् ।
नीते कुम्भेन साकं व्रजति भजति वा तत्प्रमाणानुकारा-
दित्थं मिथ्याप्रतीतिः स्फुरति तनुभृतां विश्वतस्तद्वदात्मा॥६१

(उपर्युक्त वात को और अधिक स्पष्टरूप में यों समझें) यह तो सभी निश्चयपूर्वक जानते हैं कि कुम्भ के उत्पन्न होने से प्रथम तथा पश्चात् भी आकाश बना ही रहता है परन्तु फिर भी शरीरधारियों को ऐसे मिथ्या ज्ञान हो ही जाते हैं (जिससे वे समझते हैं) कि यह घटाकाश घट के उत्पन्न होने पर उत्पन्न हो जाता है, घट के नष्ट

हो जाने पर नष्ट हो जाता है, घट के कहीं अन्वय ले जाने पर भी यह उनके भाग अन्य देश को चला जाता है। यह आकाश छोटे बड़े घट की लम्बाई नींझाई के अनुरूप भी हो ही जाता है। ठीक इसी प्रकार विश्व के पदार्थों के कारण यह परामर्शदाता भी गतिशील सा—मरता जीता सा आता जाता सा—प्रतीत होने लगता है।

यह आत्मा इस संसार के उत्तम होने से प्रथम भी था, हसके नष्ट हो जाने पर भी ऐसा ही रहेगा, यह सब कुछ जान कर भी भ्रान्त लोग इस आत्मतत्त्व में शरीरों के आधार से स्थान आदि की भ्रान्त कल्पना कर ही शेषते हैं, ये कहने लगते हैं 'मैं यह हूँ और अब वहाँ पर हूँ' परन्तु यह सब उनकी भ्रान्ति ही है। आत्मतत्त्व एक अनन्त पदार्थ है। यह कभी शरीरों के बन्धन में आकर परिच्छिन्न होने वाला तत्त्व ही नहीं है।

(शक्ति सर्वरूप है यह सीधी सी बात यदि समझ न पढ़ती हो तो यों समझो कि इस इश्य जगन् के मर चुकने पर जो तत्त्व बच रहता है वही शक्ति [आत्मा] है)

यावान् पिण्डो गुडस्य स्फुरति मधुरिमैवास्ति सर्वोपि तावान्
यावान् कर्षूरपिण्डः परिणमति सदामोद एवात्र तावान्।
विश्वं यावद्विभाति द्वुमनगनगरारामचैत्याभिरामं,
तावच्चेतन्यमेकं प्रविकसति यतोन्ते तदात्मावशेषपम् ॥६२॥

जितना तुम्हें गुड का पिण्ड दीखता है वह सबका सब कोरी मधुरिमा ही तो है। मधुरिमा के सिवाय यह गुड और कुछ है ही क्या? जितना बड़ा तुम्हें यह कपूरखण्ड दीख रहा है यह उतना सबका सब आमोद ही तो है। उसे आमोद के अतिरिक्त और क्या कहोगे? ठीक इसी प्रकार वह जितना कुछ विश्व तुम्हें दिखाई दे रहा है, ये जो बड़े बड़े पेड़

६७ यतोन्ते तदात्मावशेषपम् के स्थान पर तत्तदात्मावशेषपम् पाठान्तर भी है।

पर्वत नगर दार्शनिक तथा मन्दिर दोल पड़ते हैं, वह उद्धुक एक चैतन्य ही तो दीख रहा है । यदि वह आत उचित तरह उमस में नहीं आती तो वो उन्होंने कि जब वे उद्धुक नदीकाल के गाल का अनु देव जायेंगे किंवा ज्ञानाद्विक का इवल हो जायेंगे तो वहाँओ उन समय का देव रह जायगा ? (वहे के दूर जाने पर वित्त प्रकार भट्टी देव रह जाती है इसी प्रकार) इस विश्व के अद्वय हो जाने पर वह आत्मनन्द ही तो देव रह जायगा । (दिना अन्द्र का विनाश होता नहीं देखा जाता । इस नश्वर जगत् का जो अन्द्र है उर्ध्वी को उन उंडेन में बह तत्त्व उभग्न ले ।)

(जब वे किंतु के हृदयमन्दिर में जान उठते हैं तो बाह संज्ञा उस हो जाती है)

वाद्यान्नादानुभूतिर्यदपि तदपि सा नूनमावातगम्या,
वाद्यावातच्चनीनां न पृथग्नुभवः किंतु तत्साहचर्यात् ।
मायोपादानमेतत् सहचरितमिव ब्रह्मणा भाति तद्वत्
तस्मिन् प्रत्यक्प्रतीते न किमपि विषयीभावमामोति यसात् ६३

वाद्य ते जो (वीर या शृंगार आदि ते दुक्त किंवा उच्चनीच) नाद का अनुभव होता है वह आवात होने पर ही होता है। सामान्य शब्द, वीरचारिद्युक्त आवात और उच्चनीच आदि चनि इन चक्रका पृथक् (स्वतन्त्रल्प ते) अनुभव तो किंतु को ही ही नहीं सकता । किन्तु वह जन जन होता है तब तब सामान्य शब्द के साथ ही हुआ करता है । ठीक इसी प्रकार यद्यनि वह जगत् भावा ते उत्तम हुआ है फिर भी वह जन भी प्रतीत होता है तब ही ब्रह्म ते सहचरित चा ही प्रतीत होता है (भाव वह है कि वह जगत् जब प्रतीत होता है तभी चत् चित् और आनन्द ते हिलान्निला चा प्रतीत हुआ करता है । इनसे अलग इत्त जगत् का अनुभव किंतु को कभी होता ही नहीं । वो आत्मा सामान्यल्प ते

सब में रह रहा है । उसमें विद्योपभाव कल्पित है । विद्योप सामान्य के अन्तर्भूत ही रहता है । सहचरित सा कहने का भाव यही है कि असल में सहचरित नहीं है । असल में तो वह ब्रह्म ही सब कुछ है । विद्योप विद्योप रूप धारण करके वही अनेक रूपों में दीख पड़ रहा है) सामान्य-भाव से सब में विराजने वाले उस ब्रह्मतत्त्व की प्रत्यक्षप्रतीति जब किसी (बड़भागी) को हो जाती है तो फिर उसे यह सभी कुछ दृष्टिगोचर होना रुक्ष जाता है । फिर तो उसे अखण्ड ब्रह्मतत्त्व के ही दर्शन होते रहते हैं (इसी से जगत् को ब्रह्म से सहचरित सा कहा था । असल में तो यह ब्रह्म ही था और अब फिर ब्रह्म ही रह गया है) ।

वाच्य (दुन्दुभि आदि) से नादानुभव होता है और वह केवल व्यन्यात्मक है, उसके पश्चात् उस नाद पर ध्यान देने से 'कौन रस अभिव्यक्त हो रहा है' यह प्रतीति होती है, उसके अनन्तर 'वह आश्रात् उच्च स्वर में है या नीचे स्वर में है' यह ध्यान देने पर अनुभव होता है, जिस प्रकार इन का पार्थक्यानुभव कोटि कोटि प्रथल करने पर भी नहीं हो सकता इसी तरह माया का ब्रह्म से पृथक् अनुभव हो ही नहीं सकता । इस श्लोक का अर्थ समझने वालों को यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस प्रकार नाद आदि तीन प्रकार दृष्टान्त में हैं उस प्रकार दार्थान्त में तीन प्रकार नहीं हैं । दार्थान्त में तो केवल माया और ब्रह्म का सदा रहने वाला ऐकात्म्य ही विवक्षित है ।

(यदि तुम्हें तुम्हारे सौभाग्य से ब्रह्म और आत्मा की एकता का ज्ञान होचुका है तो अब आप अपने ऊपर कृपा करके इसका अभ्यास कीजिये)

दृष्टः साक्षादिदानी मिह खलु जंगतामीश्वरः संविदात्मा,
विज्ञातः स्थाणुरेको गगनवदभितः सर्वभूतान्तरात्मा ।
दृष्टं ब्रह्मातिरिक्तं सकलमिदमसद्गृह्ण माभासमात्रं,
शुद्धं ब्रह्माहमसीत्यविरतमधुनात्रैव तिष्ठेदनीहः ॥६४॥

(जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में उल्कान्ति आदि सम्पूर्ण गतियों में घटज्ञानादि सम्पूर्ण व्यवहारों में तथा भूतभविष्यदादि तीनों कालों में अनुगत रहने वाले) जगत् के एकमात्र प्रभु, संविदात्मा (ज्ञान) का साक्षात् दर्शन जब तुम्हें मिल चुका, सब भूतों में रहने वाले, गगन के समान सर्वव्यापी, सर्वान्तर्यामी, एक, कृदत्य, अविचलित तत्त्व को जब तुम जान चुके, ब्रह्म से भिन्न इस सुकल जगदाभास को जब तुम अत-द्रूप निश्चय कर चुके और तुम्हें यह निश्चय हो गया कि मैं ही यद्य-ब्रह्म हूँ तो वह अब तुम्हारा यह पवित्र कर्तव्य है कि निरीह होकर इसी वृत्ति में डट जाओ ।

इस वृत्ति को कभी भी स्थिरता नहीं दो । ईद्वाल्पी भेदियाँ को अपने मनोमन्दिर में कभी भी स्थिरता नहीं दो । नहीं तो ये तुम्हारे ब्रह्माकारवृत्तिरूपी दिशुओं को निर्दय होकर मार डालेंगे ।
(विज्ञानसमयकोश के आधार से व्रह्म का निरूपण यहाँ तक समाप्त हुआ)

(आनन्दसमयकोश का स्वरूप)

इन्द्रेद्राण्योः प्रकामं सुरतसुखजुपोः स्याद्रतान्तः सुषुप्ति-
स्तस्यामानन्दसान्द्रं पदमतिगहनं यत्स आनन्दकोशः ।
तस्मिन्नो वेद किञ्चिन्निरतिशयसुखाभ्यन्तरे लीयमानो,
दुःखी स्याद्वोधितः सन्निति कुशलमति वर्द्धयेन्नैव सुसम् ॥६५॥

(सुषुप्ति के समय आनन्दरूप ब्रह्म की स्वत्पसी अभिव्यक्ति सांसारिक लोगों को भी हो जाती है । ब्रह्म के स्वरूप को समझाने में उपयोगी होने से उस सुषुप्ति के स्वरूप का वर्णन अब किया जाता है) इन्द्र (दक्षिण अक्षि में रहने वाला पुरुष) तथा इन्द्राणी अर्थात् वाम नेत्र में रहने वाली अर्थभासक ज्योतिः (जो दोनों जाग्रत् काल में भ्रूमध्य में रहते हैं, सुपना देखते समय भ्रूमध्य में से उत्तरकर हृदयाकाश के पुरीतति

स्थान में वैठ जाते हैं) वे दोनों जब सुरतप्रसंग अथवा सांकलिक भोग करते हैं तो स्वप्नावस्था आ जाती है। परन्तु जब उन दोनों का वह सुरतप्रसंग चमात हो जाता है और सुख प्रकट होता है तो इसी अवस्था को सुषुप्ति कहते हैं (लोक में देखते हैं कि सुरत के पश्चात् वीर्यपात् हो चुकने पर ही सुख का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार स्वप्नावस्था के समात होने पर जबकि सुरत की नमाति हो जाती है तो इन्द्र और इन्द्राणी को सुख का आविर्भाव होता है यदी सुषुप्ति अवस्था कहाती है) उस अवस्था में जोकि एक आनन्दनिधिद पद है वही 'आनन्दग्रन्थकोश' कहाता है। जब जीव सुषुप्तिकाल के उस 'आनन्दग्रन्थकोश' में गया होता है तब वह जीव ऊँच भी नहीं जानता। वह तो उस समय निरतिशय सुख (सर्वाधिक सुख किंवा परमानन्द) में झूँवा होता है। (उस समय उसका अहंकार उत्त हो जाता है)। उरुची परमानन्दता का अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण यह है कि सोते हुए पुरुष को जब हम बलात्कार से जगाते हैं तो वह दुखी होता है (भोजनादि कराने के लिये भी यदि उसे जगाया जाय तो भी वह खिन्न ही होता है)। इससे यही सिद्ध हुआ कि विप्रयसुख की अपेक्षा उस आत्मसुख का दर्जा बहुत ही बड़ा है, जिस आत्मसुख को कि वह पुरुष सुषुप्ति में पढ़ा हुआ भोग रहा है। इसीलिये श्रुति में कहा गया है कि) बुद्धिमान् को उचित है कि सोते हुए पुरुष का निद्राभंग कभी न करे।

(जो यद्हिसुख हैं वे शोक और मोह से कदापि नहीं छुट सकेंगे)
 सर्वे नन्दन्ति जीवा अधिगतयशसा गृहणता चक्षुरादी-
 नन्तः सर्वोपकर्त्रा वहिरपि च सुपुत्तौ यथा तुल्यसंस्थाः ।
 एतेषां किल्वपस्पृजठरभृतिकृते यो वहिर्द्वितिरास्ते,
 त्वक्चक्षुःश्रोत्रनासारसनवशमितो याति शोकं च मोहम् ॥६६॥
 यदा अर्थात् ब्रह्म का दर्शन पाकर सभी जीव प्रसन्न हो जाते हैं

(आत्मवार्ता किसी को भी सुनाओ उसी का चित्तद्रव हो जाता है, कण्ठ में गद्ददता आ जाती है, आँखों में आँगू भर आते हैं, आत्मगाथा सुन कर प्रायः सभी को रोमांच होता है, फिर वह चाहे ब्रात्मण हो क्षत्रिय हो, वैश्य हो, शूद्र हो, ली हो या पुरुष हो, देव हो या राक्षस हो, क्योंकि वह उन सबकी अपनी ही तो गाथा होती है। भला व्रताओं कि अपनी प्रशंसा किसे अच्छी नहीं लगती) उस ब्रह्म ने अन्दर से इन्द्रियों को ग्रहण कर रखा है (उन्हें अपनी सत्ता देकर हरा भरा बना रखा है) वही ब्रह्म वाहर से भी विषयों का उपार्जन करकर सब का उपकारी मित्र बन रहा है। उसकी कृपा से आत्मा को प्राप्त कर लेने में सभी जीव समान भाव (हैसियत) में खड़े हुए हैं (उसको प्राप्त करने में किसी जीव में किसी वर्ण या जाति के कारण कोई भी विशेषता नहीं आया करती) जैसे कि सुपुसिकाल के आ जाने पर (जबकि सब जीवों की अन्तःकरणवृत्ति आत्माकार बन जाती है) किसी भी जीव में सुख की न्यूनाधिकता नहीं रहती, इसी प्रकार आत्मप्रतीति भी सब जीवों में समान ही होती है। अब इन जीवों में से जो मूर्ख जीव मुफ्त में मिले हुए इस ब्रह्मानन्द को छोड़कर पेटपालन के लिये वास्यवृत्ति ही बने रहते हैं (जो विषयराशियों का ही उपार्जन करते रहते हैं, पेट को ही जो परमपूजनीय देव समझ लेते हैं, चरीर ही जिनका आराध्य देवता हो जाता है) उन्हें बार बार दुःख ही दुःख भोगने पड़ते हैं। वे तो त्वचा चक्षु, श्रोत्र, नासिका और रसना के वश में आ आकर कभी शोक और कभी मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

वे त्वचा के लिये कोमल कान्ताओं तथा सुन्दर शब्द्याओं का उपार्जन करते करते ही न मिलने पर शोक तथा मिल जाने पर उनके मोह में मर मिटते हैं। सुन्दर रूप पर पदे पदे जान देने को तत्सर रहते हैं और शोक मोह के दुर्दान्त संदर्शन (सन्डासी) से पकड़ लिये जाते हैं। सुन्दर शब्द के लिये प्राणान्त विपत्तियें उठाकर कमाये हुए धन

जो यानी की तरह वदा देते हैं तथा उनके शोक मोह से उनका छुटकारा नहीं होता । सुन्दर सुगन्ध और स्वादिष्ट भोजन भी उनके लिये बड़े ग्राह हो जाते हैं । इन सुन्दर वस्तुओं के शोक मोहरूपी उलझे हुए जाल से उन्हें कभी मुक्ति ही नहीं मिलती । यही तो संसारी प्राणियों की संक्षिप्त जन्मगाथा है । सर्वं नन्दन्ति यथासा गतेन सभासाहेन सख्या सखायः । किल्वपत्पूरुष् पितुपणि र्यपामरं हितो भवति वाजिनाय ॥ (वेद) जब जीवों को वदा नामक परमात्मा के दर्शन मिलते हैं (किंवा उन्हें किसी अध्यात्मदर्शी के सुख से अध्यात्मवार्ता सुनने का प्रसंग आ जाता है) तो (क्या पापी वया पुण्यात्मा) सभी जीवों को परमानन्द का उद्ग्रेक हो जाता है । (अध्यात्मदर्शी के सुख से अध्यात्मवार्ता सुनते सुनते सभी जीव पहरों तक स्थाना, पीना, सोना, उठना आदि भूल जाते हैं और निर्निमेय द्वेषकर अपनी निजकथा सुना करते हैं । जैसे कि नर, पशु, पक्षी आदि सभी प्राणी नुयुति के समय परमसुखी होते हैं इसी प्रकार आत्मवार्ता के अवण किंवा आत्मदर्शन से सभी को समानरूप से परमसुख हुआ करता है) वह यशोरूप परमात्मा संसार से अलग नहीं रहता । वह सभासाद है अर्थात् वह विषयों को दिखाने वाली इन्द्रियों पर सदा ही आकर्षण किये रहता है (उन्हें मर्यादा में भी धारण किये रहता है) विषयभोगों का उपार्जन कराने में भी वह परमउपकारी भिन्न का काम देता है (उसके अनुग्रह के बिना विषयों का उपार्जन भी तो नहीं हो पाता) आत्मसुख भोगने में सब जीव सखा हो जाते हैं अर्थात् सुख का अनुभव सबको एक जैसा ही होता है । अब जो जीव केवल अपने उदरपोषण के लिये ही सकल प्रयत्न करते रहते हैं, उनको दुःख ही दुःख भोगना पड़ता है । क्योंकि वे तो सदा (वाजिनाय अरंहितो भवति) इन्द्रियरूपी सर्पों को ही दूध पिलाते हैं (जोकि सदा विषवमन किंवा दुःखसर्जन ही करते रहते हैं) । (तात्पर्य यह है कि यद्यपि इन्द्रियों से कभी कभी क्षणिक सुख तो मिल जाता है परन्तु हम तो सदा रहने

बाले सुख को ही सुख्य सुख कर रहे हैं। वह परमसुख उस इन्द्रियाराम को कभी नहीं मिलता। इन्द्रियों से मिलने वाले क्षणिक सुख को तो हम दुःखों में ही गिनते हैं क्योंकि उनसे दुःखरूपी वालकों का ही जन्म होता रहता है।

(इन्द्रियों से मिलनेवाले, परिणाम में फीके हो जानेवाले, तुच्छ सुखों की अपेक्षा अतीन्द्रिय सुखों की महिमा बहुत ही जँची है)

जाग्रत्यामन्तरात्मा विषयसुखकृते नेकयत्नान् विधास्यन्
श्राम्यत्सर्वेन्द्रियौघोऽधिगतमपि सुखं विसरन्याति निद्राम्
विश्रामाय स्वरूपे त्वतितरसुखम् तेन चातीन्द्रियं हि
सौख्यं सर्वोत्तमं स्यात् परिणतिविरसादिन्द्रियोत्थात्सुखाच्च ७

(अतीन्द्रिय स्वरूपसुख की अपेक्षा लौकिक आनन्द कितने अधिक तुच्छ होते हैं उसे निम्न दृष्टान्त से अपने ही अनुभव से प्रत्येक को निश्चय कर लेना चाहिये) जागते हुए वह जीव विषयसुख के लिये वडे वडे दुर्दान्त परिश्रम किया करता है, (प्रणान्त विपत्तियें उठाया करता है, आग से जलते झौंपडे में से अपनी विषयसामग्री को बाहर निकाल लाने के लिये बुस पड़ता है, पढ़ लिख कर दूर देशों का पर्यटन विषयोपार्जन के उद्देश से करने लगता है, वडे वडे दुश्शील [व्रदभिज्ञाज] स्वामियों को बश में करता है, कभी वीरधर्म से समराङ्गण में अपने ग्राणों को खो बैठता है, कभी चोरी करता करता मारा जाता है, संक्षेप में यो ही समझ लो कि अपने अपने उद्यम के अनुसार प्रत्येक ग्राणी विषयसुख के लिये प्रयत्न करते रहते हैं। वे विषयों की ही सर्वभावेन आराधना करते हैं। परन्तु) विषयार्जन के इस कठिन परिश्रम से जब उस की इन्द्रियां धक जाती हैं तो वह विचारा दैववश मिले हुए ल्त्री पुत्र धनादि विषयों और उन से मिलने वाले सुखों को भी एकदम भूल कर स्वरूप में विश्राम पाने के हेतु से निद्रा ले लेता है। (जिन को दैवदुर्विपाक से विषय नहीं

मिलता वे भी थक कर इसी आत्मदेव की शरण में प्रति दिन जाते और वहां विश्राम पाते हैं)। हम तो इस से हसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि इन्द्रियों से मिलने वाले, परिणाम में नीरस हो जाने वाले, सुख से यह अतीन्द्रिय सुख ही उत्तम सुख है। फिर उसमें एक और कैसी अद्भुत विद्योपता है कि यह आत्मसुख बहुत ही अधिक सुलभ है कि सुनने वाले को सहसा विश्वास तक नहीं होता।

विषयसुख के लिये जितना प्रयत्न करना पड़ता है, जितनी सामग्री की आवश्यकता होती है, जितना समय अपेक्षित होता है, उस का एक-शतांश भी तो हमें आत्मसुखोपार्जन में नहीं होता। यह आत्मसुख तो ध्यान करते ही छाया के समान साधक के सामने उपस्थित हो जाता है। इसके लिये किसी को कुछ भी करना नहीं होता। जिस प्रकार अन्न से भरे हुए घड़े को केवल अन्न से खाली ही करना पड़ता है, उसमें आकाश भरने के लिये किसी को प्रयत्न करना नहीं पड़ता, इसी प्रकार वृत्तिरूपी अन्न को इस मनरूपी घड़े में से निकाल कर फेंक दें, फिर देखें कि व्रह किंवा आत्मा को उसमें भरने का कोई भी उद्योग करना नहीं होगा। तात्पर्य यह है कि कुछ न करने से ही आत्मसुख का अविर्भाव हो जाता है। इस कारण से यह आत्मसुख बहुत ही थोड़े प्रयत्न से मिल सकता है। उधर विषयसुखों को तो देखो वे तो क्षण क्षण भर में गिरगट के लर की तरह, रूप बदला करते हैं। कभी डरावने कभी सोम्य बनने का तो उन का जातिस्वभाव ही है। अन्त में जब डरावनी वृद्धावस्था आती है तो विषयों को भोगने वाली इन्द्रियों के अशक्त हो जाने पर ये लिये सुसि का विचार कर लो।

(संसार के आनन्द तो सुपुसि के अनन्द का भी सुक्रावला नहीं कर सकते, वे बड़े तुच्छ हैं, इस बात को समझने के लिये सुसि का विचार कर लो)।

पक्षावभ्यस्य पक्षी जनयति मरुतं तेन यात्युच्चदेशं
लब्ध्वा वायुं महान्तं श्रममपनयति स्वीयपक्षौ प्रसार्य ।
दुःसंकल्पै विंकल्पै विंपयमनु कदर्थीकृतं चित्तमेतत्
रिवन्मं विश्रामहेतोः सपिति चिरमहो हस्तपादान् प्रसार्य ॥६८

जैसे कोई पक्षी अपने पंखों को फैला कर पट्टे तो वायु उत्तम करता है, फिर वह उस वायु के सहारे से ऊचे आकाश में उड़ जाता है, वहाँ उसे द्रुतगामी वायु मिल जाती है, तब वह उस में अपने पंखों को फैला कर अपनी पहली थकावट को भी दूर कर लेता है । ठीक इसी प्रकार अपने दुष्ट संकल्पों तथा विकल्पों से विषयोपार्जन के लिये जब हमारा यह चित्त भ्रमिष्ठ हो जाता है और अन्त में अत्यन्त खिन्न हो जाता है, तब अपने हाथ पैर फैला कर विश्राम पाने के लिये चिरकाल तक सुपुत्रिसुख का अनुभव किया करता है ।

इस से यद्दी सिद्ध होता है कि विषयसुख की अपेक्षा सुपुत्रिसुख किंवा आत्मसुख की महत्ता बहुत ही अधिक है (देखो वृहदारण्यक ४—३—१९) जिस का तात्पर्य यह है कि जैसे कोई श्येन अथवा गश्छ ऊपर उड़ता उड़ता जब यक जाता है तो अपने पंखों को फैला कर विश्राम करने का उद्योग किया करता है । इसी प्रकार यह जीव जागरण काल की विषयार्जन की थकावट के कारण शान्ति की ओर दौड़ता है, शान्त होना चाहता है, तो सहसा ही अपने मूल में पहुँच जाता है । वहाँ सो कर जाग्रत् काल की किसी भी अभिलापा को नहीं करता, न उस समय वह स्वप्न ही देखता है) ।

(विषयसुख-सुपुत्रिसुख की समानता नहीं कर सकते, हस को समझने के लिये सुपुत्र की मन लुभाने वाली अवस्था को विचारिये कि उस में कितना बड़ा आनन्द है ।)

आश्चिलज्यात्मानमात्मा न किमपि सहसैवान्तरं वेद वाह्यं
यद्वत्कामी विदेशात्सदनमुपगतो गादमादिलज्य कान्ताम् ।

यात्यस्तं तत्र लोकव्यवहृतिरस्तिला पुण्यपापानुवन्धः
शोको मोहो भयं वा समविप्रमिदं न सरत्येव किञ्चित् ॥६९॥

सुपुत्रि आने पर जब यह जीवात्मा अपने परमात्मा को सहसा आलिंगन कर लेता है तो सूक्ष्म देह से अनुभूत स्वप्न को तथा जाग्रत् में स्थूल देह से अनुभूत प्रसंगों को एकपदे भूल जाता है (उसे अन्दर बाहर का कुछ भी भान नहीं रहता । उस समय उसकी समस्त वृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं) उसकी उस समय ऐसी दशा होती है जैसे कि चिरकाल में परदेश से आया हुआ कोई कामी कामातुर होकर वही उत्कण्ठा से अपनी कान्ता का आलिंगन करते ही अन्दर बाहर के सब काम काजों को एकपदे भूल गया हो । (इसी प्रकार जाग्रत् तथा स्वप्न में विषयारण्यरूपी परदेश में गया हुआ यह जीव सुपुत्रिकाल में पाये हुए अपने परमात्मा को देखकर वही उत्कण्ठा से उसमें लीन हो जाता है । उससे चिपट जाता है । तब उसे अन्दर बाहर का कुछ भी परिज्ञान नहीं रहता) उस सुपुत्रि में यह समस्त लोकव्यवहार, यह सब पुण्य पाप का व्यवेष्णा, शोक, मोह, भय आदि सभी कुछ अस्त हो जाता है । उस समय वह सम और विषय किसी को भी याद तक नहीं करता ।

(मुक्तिसुख को समझना हो तो सुषिष्ठुति को समझ लो । भेद केवल इतना है कि मुक्ति से लौटना नहीं होता, सुषिति से तो हौट आता है ।)

अल्पानल्पप्रपञ्चप्रलय उपरतिशेन्द्रियाणां सुखासि-
र्जीविन्मुक्तौ सुपुस्तौ वितयमपि समं किन्तु तत्रास्ति भेदः ।
प्राक्संस्कारात्प्रसुप्तः पुनरपि च परावृत्तिमेति ग्रन्थद्वे,
नश्यत्संस्कारजातो न स किल पुनरावर्तते यथा मुक्तः ॥७०॥

(१) अल्प और अनल्प अर्थात् सूक्ष्म और असूक्ष्म (किंवा वासना-भय और स्थूल) प्रपञ्च का आत्मन्तिक लय भी जीवन्मुक्ति और सुषुत्रि

दोनों में हो जाता है । (२) इन्द्रियों का विलय भी दोनों अवस्थाओं में हुआ रहता है । (३) तथा सुख की प्राप्ति भी दोनों अवस्थाओं में समान ही हो जाती है । यों ये तीनों बातें इन दोनों अवस्थाओं में समान हैं । किन्तु उन दोनों अवस्थाओं में एक वज्ञा भारी भेद यही रहता है कि सुपुत्र पुरुष अपने पूर्व दिन के संस्काररूपी वन्धनों के द्वारा फिर भी संसाररूपी कारागृह में खेंच लिया जाता (किंवा लौट आता) है । किन्तु (जिस महानुभाव को ज्ञान के देवदुर्लभ दर्दन मिल चुके हों) निरन्तर मुक्त हो जाने के कारण जिसका संस्कारसमूह सर्वथा नष्ट हो चुका हो, वह फिर पहले के समान इस संसार में लौटकर नहीं आता ।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि सुपुत्रि में सर्वप्रलय हो तो जाता है परन्तु वह दैनिक प्रलय होता है तथा उसका कोई कारण नहीं होता वह स्वभाव से सभी को हुआ करता है । इस कारण उसमें उससे प्रथम होने वाले जागरणकाल के संस्कार वीजरूप से बने ही रह जाते हैं । उन्हीं संस्काररूपी रस्तियों के बल से, कूप में से धड़े के समान (सुपुत्रिकाल में आत्मानन्द में छूता हुआ भी) वह प्राणी फिर बलात् संसार में खेंच लिया जाता है । मुक्ति में तो ज्ञानाभिन्न के योग से संस्काररूपी सम्पूर्ण तृणसमूह भस्त्र हो जाता है । यही कारण है कि फिर मुक्ति से पुनरावृत्ति नहीं होती । मुक्ति और सुपुत्रि में यही एक वज्ञा भेद पाया जाता है ।

(आत्मसुख के सर्वाधिक सुख होने का कारण)

आनन्दान् यश्च सर्वानन्नुभवति नृपः सर्वसंपत्समृद्धस्तस्यानन्दः स एकः स खलु शतशुणः सन् प्रतिष्ठुः पितृणाम् । आदेवब्रह्मलोकं शतशतशुणितास्ते यदन्तर्गताः स्यु-
ब्रह्मानन्दः स एकोऽस्त्यथ विपयसुखान्यस्य मात्रा भवन्ति । ७१

(सम्पूर्ण सुखों की अपेक्षा आत्मसुख की महत्ता को इस प्रकार समझो

कि—जिस शरीर को केवल दो रोटी ही मिल सकती हैं उसे केवल भोजन का ही एक आनन्द आता है । उससे थोड़े अधिक धनी को स्नीसुख भी मिल गया तो यो समझो कि उसे दो आनन्द मिल गये । इसी क्रम से जिसको जितने अधिक विषय मिलते जाते हैं उसे उतने ही अधिक आनन्द मिलने लगते हैं ।) राजा लोगों को संसार के सभी विषय एक काल में ही प्राप्त हुए रहते हैं, इसी से सर्वसंपत्तियुक्त राजा लोग सब आनन्दों को भोगा करते हैं । तात्पर्य यह हुआ कि सम्पूर्ण विषयानन्द जहाँ इकट्ठे हो जायें वहाँ राजा का एक आनन्द माना जाता है । इस आनन्द को यदि सौगुना कर दिया जाय तो वह पितरों का एक आनन्द कहाता है । यों इसी क्रम से देवलोक से लेकर ब्रह्मलोकपर्यन्त आनन्दों की मात्रा सौ सौगुनी होती चली जाती है । वे सब आनन्द जिस आनन्द के अन्दर समा जाते हैं, जहाँ जाकर यह गणित समाप्त हो जाता है, जो आनन्द की परम काष्ठा किंवा अन्तिम सीमा है वही एक ब्रह्मानन्द कहाता है । पूर्व कहे हुए (ब्रह्मलोकपर्यन्त) सम्पूर्ण विषयसुख इसी ब्रह्मानन्द के तुच्छातितुच्छ अंश हैं । (जिस प्रकार उपाधियों के कारण एक अखण्ड आत्मा ही नाना क्षुद्रलूपों में प्रतीत होने लगा है, इसी प्रकार यह एक ही परमानन्द क्षुद्र विषयसुखों का रूप धारण करके जीवों की भ्रान्ति का कारण बन रहा है । आत्मविद्विमुख सम्पूर्ण जीव परमानन्द की इन्हीं क्षुद्र मात्राओं पर धूल में लिपटे हुए गुड़ के कणों पर मक्खियों और चींटियों के समान चिपट रहे हैं (बृहदारण्यक ४-३-३३)

(वेद भी आत्मसुख को सर्वाधिक कहता है)

यत्रानन्दाश्र मोदाः प्रमुद इति मुदश्चासते सर्व एते,
यत्रासाः सर्वकामाः स्युरखिलविरमात् केवलीभाव आस्ते ।
मां तत्रानन्दसान्द्रे कृधि चिरममृतं सोम पीयूपूर्णा,
धारामिन्द्राय देहीत्यपि निगमगिरो भ्रूयुगान्तर्गताय ॥७२॥

(मनुष्य पितर तथा आज्ञानदेवादि के) सभी आनन्द, सभी मोद, सभी प्रमुद और सभी मुद, जिस परमानन्द के अन्दर समा जाते हैं, जिस परमानन्द को पाने पर सत्यलोकादि को प्राप्त करने की सभी कामनायें पूरी हो जाती हैं, जिस परमानन्द के हाथ आ जाने पर इस समस्त तथूल सूक्ष्म जगत् का प्रलय हो जाने से केवलीभाव (अथवा कैवल्यधाम) के दर्शन मिल जाते हैं, हे सोम ! (किंवा चन्द्रमण्डल में निवास करने वाले हे ज्योतीर्लप शिव ! हे शोडपकलापूर्ण हिरण्यमय देव ! जीवत्वरूपी भ्रम में फँसे हुए) मुझे भी अपने उसी घनानन्द में ले जाकर छोड़ दो, और अमर कर दो, तथा (संसारानल से झुलसने के डर से) भ्रूङुग के वीच में बैठे हुए इस मेरे जीव पर अमृतवृष्टि का सेचन करो (यह विचारा मेरा जीव तुम्हारी इस अमृतवृष्टि की आशा से भ्रूङुग [अर्थात् संकल्प विकल्पों के वीच] में ही अभी तक जैसे तैसे बैठा हुआ है अन्यथा विषयकर्दम में फँसकर यह विचारा कभी का मर गया होता ।)

तात्पर्य यह है कि एक संकल्प के जाने तथा दूसरे के उदय होने से प्रथम जो एक क्षण भर निर्विषयावस्था किंवा निर्विकल्पावस्था रहती है, यही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है । परन्तु विषयवासनाओं की मार अथवा संसारानल के समर्क से यह विचारा संकल्पविकल्पों के वीच में दुवका और झुल्सा हुआ पड़ा है । जब तुम अपनी अमृतवृष्टि इस पर करोगे किंवा अमृतमयी दृष्टि इसकी तरफ़ फेरोगे अर्थात् इस निःसंकल्पावस्था को चिरकालस्थायिनी बना लोगे तब यह अपनी स्वतन्त्र सत्ता को धारण करके इस जगत् का महाकल्याण कर सकेगा ।

वेद में भी कहा है—“यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुदः आसते कामस्य यत्राप्ता कामास्तत्र मामृतं कृधीन्द्रायेन्द्रो परिस्तव” जिस परमानन्द के अन्दर आनन्द, मोद, मुद और प्रमुद (हँसी, खुशी, मौज और वज्ञार क्रीड़ा और दिल्लगी) सभी कुछ समा जाते हैं, बासनारूपी इस मन की सारी इच्छायें जिसके पाते ही एकपदे पूरी हो जाती हैं,

हे आत्मदेव ! मुझे भी वहाँ ले जाकर उसी परमानन्द के दर्शन कराकर अमरत्व को प्राप्त करा दो । (अनादिकाल से संसाराट्वी का चक्कर लगाते लगाते अब मैं यह निर्णय कर चुका हूँ कि तुम्हारे सिवाय और कहीं आनन्द ही नहीं है । तुम्हीं सब जगह क्षुद्र विषयानन्दों के रूप में बैठ रहे हो । अब तो मैं तुम्हें सम्पूर्ण को ही भोगना चाहता हूँ । अब इन विषयानन्दों से मेरी तृप्ति नहीं होती । दूसरों की गोद में चले डाल कर चालने के समान विषयमुखेन तुम्हें भोगने को अब मैं तैयार नहीं हूँ । हे आत्मदेव ! कृपा करो) हे चन्द्रशीतल परमात्मन् ! सकल दण्डियों के नियन्ता इस भैरों जीव पर अमृत की वृष्टि कर दो (जिससे इसका अपने मर्त्यत्व का भारी भ्रम सदा के लिये दूर हो जाय) । अथवा योगशास्त्र के अनुसार जीवन्मुक्त लोगों के कपाल के चन्द्रमण्डल में से जबकि उन की कुण्डलिनी का जागरण होता है और सूर्यचन्द्रसंगम हो जाता है तब अमृतविन्दु उपकरे लगती है, उससे योगी को भूख प्यास लगनी बन्द हो जाती है । शरीर का जितना शोषण प्राण करते हैं उसे यह अमृतधारा दूर कर देती है । यह शोषण ही भूख प्यास कहाती है । इसी से जीवन्मुक्तों को भूख प्यास की उतनी वाधा नहीं रहती । उसी अमृतवृष्टि की प्रार्थना यहाँ की गई है ऐसा भी कोई मानते हैं वह भी अप्रासंगिक नहीं है ।

(विषयानन्द भी मूल में ब्रह्मानन्द ही है । भेद केवल इतना ही रहा है कि मन में माया और आत्मा के दो भाग हैं । उनमें मायाभाग से दुःख और आत्मा के भाग से सुख होता है)

आत्माकम्पः सुखात्मा स्फुरति, तदपरा त्वन्यथैव स्फुरन्ती
स्थैर्य वा चञ्चलत्वं मनसि परिणतिं याति तत्रत्यमसिन् ।
चाञ्चल्यं दुःखहेतुं मनस इदमहो यावदिष्टार्थलिङ्घ-
स्तसां यावत्स्थिरत्वं मनसि विषयजं स्यात्सुखं तावदेव ॥७३॥

(प्रथम यह है कि परमानन्द तो एक अतीन्द्रियमुख है तथा विषय-
मुख द्वन्द्वियों से मिलने वाला नुस्खा होता है। यां अनुभव ने ही इन दोनों
मुखों में वड़ी विषमता दीख रही है। फिर यह क्योंकर मान लिया
जाय कि सम्पूर्ण प्राणी इसी परमानन्द की मात्रा के सदारे से जीवन पा-
रहे हैं। इसका उत्तर इन दो श्लोकों ने दिया जाता है)

आत्मा एक कम्पहीन पदार्थ है (वह अनादिकाल से आज तक
कभी भी अपने रूप से विचलित नहीं हुआ। उसमें किसी प्रकार की
दलचल आज तक उत्थन नहीं हो पायी है। तुम्हारे केतने में)
उसकी सुखरूपता को भी प्रत्येक प्राणी तमश्शता है। यह तो हुई
आत्मा की निश्चलसुखरूप अवस्था। इसके विपरीत माया किंवा विद्यों
की अवस्था को देखो। वह तो इससे नव्यथा विपरीत है। वह वड़ी
ही चञ्चल और अत्यन्त दुःखलपिणी है। (वे सब वाँते तभी के
नित्यानुभव में आती हैं)। अब मन की अवस्था पर विचार करो
(यह विचारा मन चिज्जड़ग्रन्थि है अर्थात् चैतन्य आत्मा और जड़ माया के
योग से बना है। इन दोनों के एक जगह रहने से उलझकर ग्रन्थिलय मन
बन गया है) उस आत्मा की स्थिरता और माया की चंचलता ये दोनों
ही गुण इसे दायरभाग के रूप में मिले हैं। (इस विचारे मन को जब
तक इसका चाहा विषय नहीं मिल जाता, जब तक यह उस विषय के
लिये सैकड़ों प्रयत्नों में फँसा रहता है) इसकी चञ्चलता (जो इसे इसकी
मायारूपी माता से विरासत में मिली है) इसे दुःखी किया करती है।
परन्तु उस विषय के मिल जाने पर आकुलता के बन्द होते ही कृतकृत्य
हो जाने से जितनी देर भी मन में स्थिरता रह सकती है (जो इसे
आत्मप्रिता से विरासत में मिली है) तभी तक विषयज सुख बना रह
सकता है।

(विषय आकर मन को शान्त कर देते हैं। यथार्थ सुख मन के
शान्त होने पर ही होता है। अब हमें यही विचारना है कि क्या यह

मन निरूपी के लिया भी इसी प्रकार जाना है। गंगार के सरी सुम रुद्र की प्रकृति करने के लिये वेदान्ती का निर्माण हुआ है। ये बहने हैं कि निरूप और आनन्द की तो आरम्भ में व्याप्ति ही नहीं हैं। दौरा इतानि सो तो है कि—(१) विद्य का मिलना, (२) चित्त का अन्तर्मुख देना, (३) आनन्द आना। गंगार के अविनाशकील लोग विद्य का मिलना और आनन्द का आना इन ही दो (पहली और दूसरी) दानों की व्याप्ति गमन देते हैं। परन्तु उच्ची व्याप्ति तो चित्त के अन्तर्मुख में और आनन्द आने की ही है। अब कुछ भूख्य लोग अन्म वे गंगार आनन्द धाने के लिये जाना आदि विषयों की चाढ़-चालना किया रखते हैं। उन्हें करी कभी उनके प्रारब्धकमन्तुसार धनिक आनन्द की प्राप्ति अपना नुस्खा की दांकी मिल भी जाती है। दूसरे विवेकी लोग तो जिनकी आनन्द की उच्ची व्याप्ति का ज्ञान हो चुका है, योगियिति में जिनको अन्तर्मुख करके आनन्द का पूर्णोपभोग लिया फलते हैं। इन सबमें वही मिल होता है कि भूख्य और विवेकी आत्मागम और विषयार्थी दोनों ही लोग एक ही आनन्द को भिन्न भिन्न भावों से भोग रहे हैं। दद्मानन्द और विषयानन्द में लेदामात्र भी अन्तर नहीं है। भेद केवल इतना ही हो रहा है कि हाथी को आरसी के शीशे में देखने से जैसे वह छोटा दिल्लाई देता है दस्ती प्रकार विषयरूपी शीशे में देखने से वह महान् आत्मानन्द भी छोटा सा बन कर हमारे पास पहुँचता है। यस यही हमारी भ्रान्ति का कारण हो रहा है।

(मुख्यों का और मन की स्थिरता का बड़ा गम्भीर साहचर्य है
यह दृश्य पदने वाली सुखों की न्यूनाधिकता तो मन की
एकत्रिता की मात्रा पर निर्भर है)

यद्गत्सौख्यं रतान्ते निमिषमिह मनसेकताने रसे स्थात्
स्थैर्यं यावत्सुपुस्तौ सुखमनतिशयं तावदेवाथ मुक्तौ।

नित्यानन्दः प्रशान्ते हृदि तदिह सुखस्थैर्ययोः साहचर्यं
नित्यानन्दस्य मात्रा विषयसुखमिदं युज्यते तेन चक्तुम् ॥७४॥

रमण के पश्चात् जबकि मन एक ग्र हो जाता है तब (मैथुन करने वालों को) एक क्षण भर (किंवा पलक मारन जितने समय तक) आनन्द आता है । सुपुति में जब तक मन स्थिर बना रहता है उतनी ही देर तक वैसा ही निरतिशय सुख बना रहता है । सुक्ति में भी ठीक इसी प्रकार समझ लो । विशेषता केवल इतनी ही है कि यहाँ यह मन सदा के लिये शान्त हो जाता है । इसी कारण से उस समय एक नित्य आनन्द का ही आविर्भाव हो जाता है । यो मन की स्थिरता और सुख ये दोनों ही साथ साथ रहने वाले पदार्थ हैं । यही सब देखकर विषयसुखों को नित्यानन्द की मात्रा कहना बहुत ही ठीक है ।

विषय तथा सुख का सहचारी भाव नहीं है । मन की स्थिरता होने पर ही सुख मिलता है । जिस विषय से जितनी देर मन स्थिर रह सके उससे उतने समय तक सुख मिल करता है । मैथुन से क्षण भर के लिये मन स्थिर होता है तो उससे क्षणभर ही आनन्द मिल जाता है । सुपुति से दो चार पहर के लिये मन स्थिर हो जाता है तो उससे दो चार पहर आनन्द आ जाता है । सुक्ति होने पर तो हमारा मन सदा के लिये स्थिर हो जाता है इसी से उस समय हमें नित्यानन्द का आविर्भाव हो जाता है ।

आनन्दमयकोश की सहायता से ब्रह्मानन्द का वर्णन समाप्त हुआ ।

(अब जगत् के मिथ्याभाव का वर्णन किया जायगा)

(संसार के व्यापार से थककर जब यह आत्मा विश्राम करता है तब यही सुसिंह होता है)

श्रान्तं स्वान्तं सवाह्यव्यवहृतिभिरिदं ताः समाकृष्य सर्वा-
स्तत्तत्स्तकारयुक्तं ह्यपरमति परावृत्तमिच्छन्निदानम् ।

स्वामान् संस्कारजातप्रजनितविपयान् स्वामदेहेऽनुभूतान्
प्रोज्ज्यान्तः प्रत्यगात्मप्रवणमिदमगाद्गूरि विश्राममस्मि॒न् ॥७५

(अब स्वमदशा के दृष्टान्त से प्रपञ्च के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करना है इससे प्रथम स्वप्न के स्वरूप का ही विचार किया जाता है) । यह हमारा मन (लीपुत्रादि के पोषण आदि) वाल्य व्यापारों से थक कर, उन सब वाल्य व्यापारों को समेट कर, परन्तु उन वाल्य व्यापारों के (अनादि) संस्कारों को अपने साथ ही लेकर, अपने तथा जगत् के निदान आत्मा से मिलने की (वेगवती) उत्कण्ठा से, उन सब वाल्य व्यापारों से हट कर उपराम कर जाता है । (मानो कोई पान्थ बहुतसा देशाटन करके स्थिन्न होकर विश्राम करने के लिये अपने घर को लैट रहा हो) अनादिकाल के दृढ़संस्कारों से युक्त ही वह मन स्वप्न के समय, स्मृति पर चढ़े हुए संस्कारों से उत्पन्न हुए, सूक्ष्मदेह में भोगे हुए, स्वामभोगों को भी मार्ग में ही छोड़कर आत्मधाम को पाने की ही एक-मात्र उत्कण्ठा से सुपुत्रि के समय इसी आत्मधाम में पहुँचकर बहुत बड़ा विश्राम पा जाता है (जैसा कि इसको संसार के किसी भी विपय से नहीं मिल सकता) ।

जिस प्रकार किसी राजाधिराज से मिलनां चाहनेवाला कोई सामन्त राजद्वार पर खड़ी सेना को वहीं छोड़कर राजसभा के दो चार रत्नों के साथ राजमन्दिर में प्रवेश करता है । परन्तु राजा के खास महल में तो उन्हें भी द्वार पर ही छोड़कर राजा के सामने अकेला उपस्थित हुआ करता है । ठीक इसी प्रकार जाग्रत्काल की विषयसेना को इस स्थूल शरीररूपी राजमहल के इन्द्रियरूपी दरवाज़ों पर ही छोड़कर, फिर उन विषयों में जिनपर आत्मा का अधिक प्रेम हो, जो संस्काररूप से हृदय में भी बुस बैठे हों, उनके साथ राजमहलरूपी लिङ्गदेह में प्रवेश करता है और स्वप्न देखा करता है । परन्तु जब साक्षात् राजा के दर्शन

के समान आत्मदर्शन का प्रसंग आता है तब उन स्वाम्भोगलयी नज़रों को भी द्वारा ही पर छोड़कर अकेला आप ही आत्मराज के समझ उपस्थित होता है और विषयारण्य में भटकते हुए विषयलयी भेदियों के काटने आदि की असह्य पीड़ाओं से तत्क्षण ही मुक्त हो जाता है । इस से यह तात्पर्य निकलता है कि विषयपरंडन करते करते जब हमारा मन सिन्न हो जाता है तब वह मुमुक्षि को ही चाहता है परन्तु मार्ग में दैववश स्वप्रावस्था उत्पन्न हो जाया करती है ।

(स्वम विषय की पुक बड़ी शंका)

स्वमे भोगः सुखादेर्भवति ननु कुतः साधने मृद्धमाने,
स्वामं देहान्तरं तद्ववहृतिकुशलं नव्यमुत्पद्यते चेत् ।
तत्सामग्रवा अभावात् कुत इदमुदितं तद्विसांकलिपकं चेत्
तत्किं स्वामे रतान्ते वपुषि निपतिते दृश्यते शुक्रमोक्षः ॥७६॥

भोगों का साधन यह स्थूल देह जब निश्चेष्ट होकर पढ़ जाता है तब स्वप्रावस्था में सुख किंवा दुःख देनेवाले विषयोपभोग का साधन क्या होता है ? यह एक प्रश्न है । यदि कहो कि स्वप्रव्यवहार करने में समर्थ कोई दूसरा नया ही स्वाप्न देह उत्पन्न हो जाता है उसीसे स्वप्रव्यवहार हो जायेंगे तो वताओं कि स्वामं देह को उत्पन्न करनेवाली सामग्री ही वहाँ कहाँ रहती है ? यदि स्वप्नदेह को सांकलिक (असद्वृप) माना जाय किंवा उसे यह समझ लिया जाय कि भूतावेश के समान ही कोई शरीर उत्पन्न हो जाता होगा सो भी ठीक नहीं क्योंकि स्वप्नकाल की त्वी से भोग करने के बाद जो वीर्यपात हो जाता है वह वीर्यपात इस निश्चेष्ट पड़े हुए स्थूल शरीर में क्योंकर देखा जाता है ? इसका निगृह कारण वताओं । स्वप्न के मिथ्या देह का वीर्यपात भी मिथ्या ही होना चाहिये था । परन्तु मैथुन को प्रकट करने वाले वीर्यपात को प्रातःकाल होने पर सत्य क्यों पाते हैं इसका कारण वताओं ?

(स्वम की शंका का परिहार)

भीत्या रोदित्यनेन प्रबद्धति हसति श्लाघते नूनमसात्
स्वमेऽप्यङ्गेऽनुवन्धं त्यजति न सहसा मूर्छितेऽप्यन्तरात्मा ।
पूर्वं येयेऽनुभूता स्तन्नुयुवतिहयव्याघ्रदेशादयोर्था-
स्तात्संस्कारस्वरूपान् सृजति पुनरमून् श्रित्य संस्कारदेहम् ॥

(स्वमकाल में उत्पन्न चोर व्याघ्रादि के) भय से कभी कभी इस (स्थूलदेह) से ही रोने लगता है, कभी इस देह से बड़बड़ाने लगता है, कभी हँसने लगता है तथा कभी किसी विषय के मिलने पर अपने को कृतार्थ कहने लगता है । वह यह सब कुछ स्वमशरीर से नहीं करता । इन सब से यही निश्चित होता है कि यह अन्तरात्मा जब स्वम देखता है, तब चाहे इस का यह स्थूलदेह मूर्छित भी क्यों न हो गया हो, तो भी वह इस स्थूलदेह से अपना सम्बन्ध सर्वथा नहीं छोड़ देता और अनादि काल से चली आने वाली जाग्रदादि अवस्थाओं में जिन जिन शरीरों, जिन जिन अपनी पराई लियों, यात्रा के साधन जिन धोड़ों, भयकारक जिन व्याघ्रादिओं तथा जिन अनेक देशादि विषयों का अनुभव कर लिया है, उन सब के संस्कारों के अनुरूप ही, इस संस्कारदेह (लिङ्ग शरीर) के सहारे से फिर दुबारा उन शरीरादि विषयों को बना लेता है । लिङ्गदेह के वे संस्कार ही उद्बुद्ध होकर उन उन विषयों के रूप में बदल जाते हैं । वे विषय लगभग वैसे ही होते हैं जैसे कि जाग्रत् काल में देखे होते हैं । अर्थात् संस्काररूप में रखे हुए विषय ही दीखने लग पड़ते हैं । (तात्पर्य यह हुआ कि एक तो उस स्वम देखने वाले पुरुष ने स्थूल शरीर से अपना नाता सर्वथा नहीं तोड़ा है, दूसरे उस ने जो नये संकल्पित शरीर बना लिये हैं उन के संयोग से वीर्यपात का होना संभव हो गया है ।) ॥७७॥

(उसी का स्पष्टीकरण)

सन्धौ जाग्रत्सुप्त्योरनुभवविदिता स्वान्यवस्था द्वितीया
तत्रात्मज्योतिरास्ते पुरुष इह समाकृज्य सर्वेन्द्रियाणि ।
संवेश्य स्थूलदेहं समुचितशयने स्वीयभासान्तरात्मा
पद्यन्संस्काररूपानभिमतविपयान् याति कुत्रापि तद्वत् ॥७८॥

जाग्रत् तथा सुपुत्रि काल की सन्धि में एक तीसरी स्वभावस्था भी सब के अनुभव में आती है । इस अवस्था में वह स्वप्रदर्शी अपनी सकल इन्द्रियों को स्वरूप में लौटा लेता है (अर्थात् उस समय इन्द्रियां विषयाभिमुख नहीं रहतीं) और उस समय वह पुरुष 'आत्मज्योति' हुआ रहता है । (अर्थात् इन्द्रियों के न होने पर भी उस समय जो विषय का ग्रहण होता है वह आत्मरूप ज्योति से ही हुआ करता है) उस समय वह स्वप्रदर्शी अपने इस स्थूलदेह को जहां निद्रा आती है वहाँ किसी विस्तर पर लिटाकर अपनी आत्मदीति से (अपने सामर्थ्य से) स्वप्न के देह और संस्कारों के अनुलप्त इन्द्रियों को बनाकर जहां तहां संस्काररूप से ही विचरण किया करता है ।

(स्वभ का विवरण)

रक्षन् प्राणैः कुलायं निजशयनगतं श्वासभात्रावशेषै-
र्मभूत्तप्रेतकल्पाकृतिकमिति पुनः सारमेयादिभक्ष्यम् ।
स्वभे स्वीयप्रभावात् सृजति हयरथान् निम्नगाः पल्वलानि
क्रीडास्थानान्यनेकान्यपि सुहृदवलापुत्रमित्रानुकारान् ॥७९॥

(पहले श्लोक में देह को छोड़कर चले जाने की बात कही है, उस समय यदि देह जीता है तो व्यापार क्यों नहीं करता ? यदि मर गया है तो श्वास क्यों लेता है ? इसका उत्तर इन दो श्लोकों से दिया है) जब संस्काररूप से जहां तहां विचरण करता है तब उस समय अपने विस्तर पर पड़े हुए इस शरीर की रक्षा प्राणों के द्वारा किया करता है कि कहीं

यह शरीर मरा सा न हो जाय और मरे हुए की गन्ध लेने वाले कुत्ते आदि मांसाहारी जन्तु इसे सँघर कर चीर फाड़कर न खा जायँ । उस समय प्राण के धर्म भूख प्यास आदि तो कुछ नहीं रहते किन्तु श्वास-मात्र के रूप में ही प्राण बने रहते हैं (प्रयोजक के न रहने से प्राण उस समय अन्य कोई भी व्यापार नहीं किया करते) । स्वप्न देखते समय अपने प्रभाव से घोड़े, रथ, नदी, तालाब तथा बहुत से क्रीडास्थान और स्त्री, पुत्र, मित्रादि के समान ही नये नये पदार्थ घड़ लिया करता है ।

(स्वप्न का विवरण)

मातंगव्याघ्रदस्युद्विपदुरगकपीन् कुत्रचित् प्रेयसीभिः
क्रीडनास्ते हसन् वा विहरति कुहचिन्मृष्टमश्नाति चान्म् ।
म्लेच्छत्वं प्रासवानस्म्यहमिति कुहचिच्छङ्कितः स्वीयलोका-
दास्ते व्याघ्रादिभीत्या प्रचलति कुहचिद् रोदिति ग्रस्यमानः ॥

इतना ही नहीं स्वप्न में वह हाथी, व्याघ्र, चोर, शत्रु, सर्प तथा वानरादि को भी बना लेता है, कहीं स्वप्न की कान्ताओं से क्रीडा और उपहास करता है, कभी कहीं विहार करने लगता है, कभी कहीं बढ़िया स्वादु भोजन खाता है । कभी कभी तो 'ओहो मैं ब्राह्मण होकर भी म्लेच्छ बन गया हूँ' इस विचार से अपने निजी मित्रों से बड़ा लज्जित सा हो जाता है । स्वप्न के व्याघ्रादि के डर से कभी तो खूब दौड़ने लगता है, परन्तु कभी तो दौड़ने की शक्ति के होने पर भी उन से पकड़ा लाकर रोया करता है । वृहदारण्यक ४-३-९-११ ॥८०॥

(जो जो पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे सब उस में के आत्मा को न पहचानने से ही उत्पन्न हो गये होते हैं इसलिये जाग्रत् काल के जगत् को दृष्टसृष्ट कहा जाता है)

यो यो दृग्गोचरोर्थो भवति स स तदा तद्वतात्मस्वरूपा-
विज्ञानोत्पद्यमानः स्फुरति ननु यथा शुक्तिकाज्ञानहेतुः ।

रौप्याभासो मृप्यैव स्फुरति च किरणाज्ञानतोऽम्भो भुजङ्गो
रज्ज्वज्ञानान्निमेपं सुखभयकुदतो दृष्टसुरं किलेदम् ॥८१॥

जैसे शुक्ति के अज्ञान से रजताभास की उत्पत्ति हुआ करती है (जब हम शुक्ति के स्वल्प को समझ नहीं पाते तब वहाँ वृथा ही 'यह रजत है' ऐसी प्रतीति होने लगती है। तत्त्वदृष्टि से तो वहाँ शुक्ति ही होती है)। अथवा जैसे जब हमें सूर्यकिरणों का अज्ञान हो जाता है तब वहाँ वृथा ही मृगजल दिखाई दिया करता है (असल में वहाँ मृगजल नहीं होता वहाँ तो केवल सूर्यकिरणें ही होती हैं)। अथवा जब हम रज्जु के स्वल्प को नहीं पहचान पाते तब रज्जु के स्वल्प के अज्ञान से वहाँ प्रातिभासिक सर्प की उत्पत्ति हो जाया करती है (तत्त्वदृष्टि से तो वहाँ रज्जु ही रहती है)। इन तीनों उदाहरणों के अनुसार जाप्रत् अवस्था में जो जो (पशु, पक्षी, खी, पुत्रादि) पदार्थ दृगोचर हुआ करते हैं वे वे पदार्थ उस समय (जब हम उन पदार्थों को देखते हैं)। उन पदार्थों के अन्दर अन्तर्यामीरूप में रहने वाले आत्मस्वल्प को न पहचानने से ही प्रतीत हुआ करते हैं। (अर्थात् जब हमें आत्मस्वल्प का अज्ञान हो जाता है तब हमें पशु, पक्षी, खी, पुत्रादि पदार्थ दीखा करते हैं। दीखने वाले पदार्थों की उत्पत्ति तभी हुआ करती है जब हमें उनके अधिकरणों का ज्ञान नहीं रहता। यदि हमें शुक्ति आदि अधिकरणों का ज्ञान बना रहे तो रजतादि पदार्थ कमी भी प्रतीत न हो। इसी प्रकार यदि हमें आत्मस्वल्प का ज्ञान बना रहे तो हमें खी पुत्रादि पदार्थ प्रतीत ही कैसे हों? इसीसे जीवन्मुक्तों को जगद्धान बन्द हो जाता है। वे तो सदा अधिष्ठान के दर्शन किया करते हैं। भाव यही है कि आत्मा का अज्ञान हो जाने पर पदार्थकार दिखाई दिया करता है। इसी से सुपुत्रिकाल में जब हमारी अन्तःकरणवृत्ति सिमटकर आत्माकार हो गयी होती है तब फिर हमें किसी भी पदार्थ का भान नहीं होता।)

प्रातिभासिक रजत को देखकर लोभी को थोड़ा सा सुख हो जाता है, सांप को देखकर किसी भीर को थोड़ा से भय हो लेता है। यों हम प्रातिभासिक पदार्थों में भी कार्य करने की थोड़ी सी शक्ति तो देखते ही हैं। इसी प्रकार जाग्रत् काल के दृष्टसृष्टि रुग्न पुत्रादि विषय भी क्षणिक सुखों या दुःखों को उत्पन्न कर दें तो इसमें आश्रय करने की बात ही क्या है ? इस सबसे यही सिद्ध होता है कि जगत् के ये सम्पूर्ण पदार्थ दृष्टसृष्टि हैं।

जितने समय हम इन्हें देखते रहते हैं वे प्रातिभासिक सर्प के समान इतने ही समय तक बने रहते हैं। देखना बन्द होते ही वे फिर नष्ट हो जाते हैं। इन पदार्थों के स्थायी दीखने का तो एक विशेष कारण यह है कि अनादिकाल के दृढ़ संस्कारों के कारण यह पदार्थरचनाचक्र इतनी तेजी से धूम रहा है कि हमें इनके निर्माण का ज्ञान ही नहीं होता। जैसे रात्रि में अधजली लकड़ी को धुमाने से एक गोलाकार तेज दीखा करता है। उस समय अधजली लकड़ी किसी को भी दीख नहीं पड़ती। परन्तु क्या वहाँ वास्तव में ही कोई गोलाकार वस्तु रहती है ? वहाँ तो धुमाने की तीव्रता से उस अर्धदग्ध काष्ठ का रूप छिप जाता है। इसी प्रकार इन पदार्थों की क्षणिक उत्पत्ति का पता दृढ़ संस्कारों के अनुवन्ध से किसी को ज्ञात नहीं हो पाता।

(इस जगत् को इन्द्रजाल के तुल्य समझना ही अधिक से अधिक ठीक है)

मायाध्यासाश्रयेण प्रविततमस्तिलं यन्मया तेन मत्स्या-
न्येतान्येतेषु नाहं यदपि हि रजतं भाति शुक्तौ न रौप्ये ।
शुक्त्यंशस्तेन भूतान्यपि मयि न वसन्तीति विष्वग्विनेता,
प्राहासाद् दृश्यजातं सकलमपि मृष्टैवेन्द्रजालोपमेयम् ॥८२॥

मायारूपी अध्यास के आश्रय से मैंने ही क्योंकि यह सब नामरूपात्मक सम्पूर्ण जगत् विस्तारित कर रखा है केवल इस कारण से ही ये

सब भूत मेरे में स्थित मान लिये गये हैं। परन्तु मैं इनमें नहीं रहता हूँ (यदि पूछो कि कारण तो अपने कार्यों को व्यात करके रहा करता है फिर तुम कैसे कहते हो कि मैं इन भूतों में कभी नहीं रहता हूँ इस का उत्तर दृष्टान्त में मुनो) देख लो, शुक्ति में तो रजत प्रतीत हुआ करता है परन्तु उस रजत में उस शुक्ति का कोई सा भी अंश प्रतीत नहीं हुआ करता। इसी भाव को लेकर श्रीकृष्ण ने कहा था कि ये भूत मुझ में नहीं रहते हैं। इससे हम यह समझे हैं कि यह दीख पढ़नेवाला समस्त संसार मिथ्या है। यह तो इन्द्रजाल के समान दीखने ही दीखने को है।

(यहाँ से कर्मीमांसा प्रकरण का प्रारम्भ होता है)

(हमें जो इष्ट और अनिष्ट फल देखने पढ़ जाते हैं उनका मूल कारण हमारे कर्म ही होते हैं)

हेतुः कर्मेव लोके सुखतदितरयो रेवमज्जोऽविदित्वा,
मित्रं वा शत्रुरित्थं व्यवहरति सृपा, याज्ञवल्म्यार्तभागौ ।
यत्कर्मेवोचतुः प्रागजनकनृपगृहे चक्रतुस्तत्प्रशंसां,
वंशोत्तंसो यदूनामिति वदति न कोप्यत्र तिष्ठत्यकर्मा ॥८३॥

सब प्राणियों को भले दुरे फल देने वाला कर्म ही होता है (कर्म से ही सबको सुख और दुःख मिला करते हैं) परन्तु संसार के अविवेकी लोग इस तथ्य वार्ता को न समझकर वृथा ही किसी को मित्र और किसी को शत्रु मानकर व्यवहार किया करते हैं (उन्हें यह विचार नहीं होता कि जिन्हें हम मित्र समझते हैं वे हमारे सत्कर्मों का फल देने के लिये उतारे गये साधन हैं। तथा जिन्हें हम शत्रु समझते हैं, वे हमारे पापों का फल देने के लिये उतारे हुए प्राणी हैं। हमारे भले दुरे कर्म ही मित्र और शत्रुरूप में हमें सुख दुःख दिया करते हैं। ऐसी विवेचना प्राकृत लोग नहीं करते। वे अपने कर्मों को दोप न देकर वृथा ही शत्रु और मित्रों

को उल्हना दिया करते हैं ।) जनक राजा के घर पर यान्त्रवल्क्य और आर्तभाग मुनि ने भी कर्मों की ही प्रशंसा की है । *

(इन जड़ कर्मों का प्रेरक तो अन्तरात्मा ही है)

वृक्षच्छेदे कुठारः प्रभवति यदपि प्राणिनोद्यस्तथापि
ग्रायोन्नं तुसिहेतु स्तदपि निगदितं कारणं भोक्तृयलः ।
ग्राचीनं कर्म तद्विष्पमसमफलप्रासिहेतु स्तथापि,
स्वातन्त्र्यं नश्वरेसिन्नहि खलु घटते प्रेरकोस्यान्तरात्मा ॥८४॥

यदपि वृक्ष को काटने में कुल्हाड़ी समर्थ तो होती है, तो भी जब उसे कोई जीवित पुरुष चलाता है तभी वह वृक्षों को काट सकती है (स्वतन्त्ररूप से वृक्ष को काटने का सामर्थ्य उसमें नहीं है) अथवा जैसे अन्न से निश्चय ही तृती हो जाती है परन्तु भोक्ताओं का पचन तथा भोजनक्रिया आदि व्यापार ही उसका कारण माना गया है (उसके

लक्ष्यहान्तरण्यक ६-२-१३ । जब यह अनात्मदर्शी मरता है तब वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु सूर्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, आत्मा अर्थात् हृदय आकाश में, लोम औपथियों में, केश वनस्पतियों में, लोहित और वीर्य जलों में लीन हो जाते हैं । तब वह पुरुष किसके सहारे से रहता है ? किससे वह फिर फिर दूसरे शरीरों को धारण कर लेता है ? इसका उत्तर मीमांसक लोग स्वभाव, लौकायितिक लोग यद्यप्ति, ज्योतिषी लोग काल, वैदिक लोग कर्म, देवताकाण्ड के लोग दैव, विज्ञानवादी विज्ञान तथा शून्यवादी शून्य में देते हैं । हे आर्तभाग ! जल्प से इस निगूढ़ सत्य का निर्णय नहीं हो सकेगा । आओ हाथ पकड़कर बाहर चलें । हम दोनों ही इस प्रश्न का निरूपण करेंगे । जनसमुदाय में इसका निर्णय न हो सकेगा । उन दोनों ने क्रम से इन सब बातों पर विचार किया । सबके बाद उन्होंने यही निर्णय किया कि कर्म के आश्रय से ही यह जीव-वार वार यार शरीरों को धारण किया करता है । उन्होंने कर्म की बड़ी प्रशंसा की है ।

विना अब से तृती कर्मी नहीं होती) ठीक इसी प्रकार यह तो ठीक है कि पूर्वजन्म के किये हुए कर्म ही ऊँच नीच फलों के कारण होते हैं परन्तु इस क्षणनश्वर (अक्रेले) कर्म में फल देने की स्वतन्त्रता नहीं रह सकती । इन कर्मों का प्रेरक तो अन्तरात्मा ही होता है ।

तात्पर्य यह है कि किये हुए भले वुरे कर्म तो उसी समय नष्ट हो जाते हैं, धर्माधर्म रूप में उनके संस्कार आत्मा में रह जाते हैं । जब अन्तरात्मा उन्हें प्रेरणा करता है तब उनमें भोगानुकूलगता आ जाती है और वे भोग देने को उद्यत हो जाते हैं । वह फलभोग ईश्वर से प्रेरित हुए कर्मों के साक्षी जीव को ही होता है, जोकि अज्ञान के कारण अपने आपको देहाभिमानी मान देता है ।

(अज्ञानी समझें या न समझें शुद्ध से शुद्ध कर्म भी ब्रह्मार्पण होते जाते हैं)

स्मृत्या लोकेषु वर्णाश्रमविहितमदो नित्यकाम्यादि कर्म
सर्वं ब्रह्मार्पणं स्यादिति निगमगिरः संगिरन्तेऽतिरम्यम् ।
यन्नासा-नेत्र-जिह्वा-कर-चरण-शिरः-श्रोत्रसंतर्पणेन
तुष्येदज्ञीव साक्षात्सुरिव सकलो मूलसन्तर्पणेन ॥८५॥

निगम (वेद) ने बहुत ही ठीक कहा है कि वर्णाश्रम की मर्यादा के अनुसार स्मृतियोंने जिन नित्य तथा काम्य आदि* कर्मों का विधान किया है वे सभी कर्म ब्रह्मार्पण ही हो जाते हैं । कर्ता लोग किन्हीं फलों की आशा से किन्हीं अन्य देवताओं की आराधना के लिये जो कर्म

क्ष (१) नित्य—जिनके न करने पर पाप होता है जैसे सन्ध्याचन्दनादि (२) काम्य—किन्हीं इच्छाओं से किये गये पुत्रेष्टि आदि (३) नैमित्तिक—जातकर्मसंस्कार आदि (४) प्रायश्चित्त—जिनसे पापों का क्षय हो जाता है (५) उपासना—देवताओं की आराधना (६) निषिद्ध कर्म—हिंसाब्यभिचारादि । नित्य कर्मों के करने से बुद्धि की शुद्धि होती है तथा उपासना से बुद्धि एकाग्र हो जाती है ।

करते हैं वे सब के सब स्वयं ही व्रहार्पण हो जाते हैं (हाँ इतना अवश्य होता है कि कर्ता लोग उन उन वासनाओं से लित हो जाते हैं । यदि पूछो कि दूसरे देवता के उहैश्य से किये हुए कर्म व्रहार्पण क्योंकर हो गये ? तो उसका उत्तर सुनो) नासिका, नेत्र, जिहा, हाथ, पैर, सिर तथा कान को चन्दनादि लगाकर तृत करने से जिस प्रकार देही जीवात्मा तृत हो जाता है अथवा जैसे मूल को सींचने से सम्पूर्ण वृक्ष ही तृत हो जाता है, इसी प्रकार चाहे किसी भी देवता के उहैश्य से कर्म किये जायें वे सभी सकलदेवतारूपी परमेश्वर के चरणों में पहुँच ही जाते हैं ।

(आत्मदर्शी और अनात्मदर्शी के कर्मों का भेद देख लीजिये)

यः प्रैत्यात्मानभिज्ञः श्रुतिविदपि तथा कर्मकृत् कर्मणोस्य नाशः स्यादल्पभोगात् पुनरवतरणे दुःखभोगो महीयान् आत्माभिज्ञस्य लिप्सोरपि भवति महाञ्चशाश्वतः सिद्धिभोगो ह्यात्मा तस्मादुपास्यः खलु तदधिगमे सर्वसौख्यान्यलिप्सोः ८६

(सकल जगत् के साक्षी सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र सूक्ष्मधार ईश्वरात्मा को न पहचान कर जो कर्म किये जाते हैं पहले उनकी गति सुन लीजिये) जो वेदज्ञ भी हो तथा याग आदि शुभ कर्मों का करनेवाला भी हो परन्तु यदि वह आत्मा को नहीं पहचानता (और सदा वहिर्मुख ही रहता हुआ) इस संसार को छोड़कर चला जाता है, उसके कर्म उसे थोड़ा सा (स्वर्गादि) भोग देकर नए हो जाते हैं । उसको उस स्वर्गलोक से उतर कर इस मर्त्यलोक में आने में वड़ा भारी दुःख होता है । जो लोग तो आत्मदर्शी होकर विषयभोगों की लिप्सा में पड़ जाते हैं वे स्वर्गलोक से

‘ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति’ वे अनात्मज्ञकर्मों लोग अपने पुण्यों के प्रताप से कमाये हुए विशाल स्वर्गलोक को भोगचुकने पर पुण्यराशि के समाप्त होते ही इस मर्त्यलोक में धकेल दिये जाते हैं ।

बहुत अधिक काल तक अणिमादि आठों सिद्धियों को भोगा करते हैं। परन्तु जिस आत्मदर्शी महापुरुष को किसी प्रकार की लिप्सा ही नहीं रहती, उसको तो आत्मदर्शन होते ही सम्पूर्ण सुख मिल जाते हैं किंवा परमानन्द प्राप्त होजाता है। इसलिये दुनियाँ का ही बढ़िया सुख या अमर सुख किसी को पाना हो तो भी वह आत्मा की ही उपासना करे।

(आश्र्वयपूर्वक देखो कि सूर्य चन्द्र आदि वडी ज्योतियाँ पदार्थों का प्रकाश करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। वे हमारी दयापूर्ण सहायता की भिखारिन [मोहताज] हैं)

सूर्यादै रथभानं नहि भवति पुनः केवलैर्नात्रि चित्रं,
सूर्यात्सूर्यप्रतीतिर्न भवति सहसा नापि चन्द्रस्य चन्द्रात् ।
अग्ने रथेश्च किन्तु स्फुरति रविमुखं चक्षुषश्चित्प्रयुक्ता-
दात्मज्योतिस्ततोयं पुरुष इह महो देवतानां च चित्रम् ॥८७॥

अकेले सूर्य चन्द्रादि से भी पदार्थों की प्रतीति नहीं हुआ करती, इसमें आश्र्वय की कोई वात नहीं है (सूर्यादि को स्वयंप्रकाश कहने की जो परिपाटी लोक में पढ़ गयी है वह ठीक नहीं है । क्योंकि) यदि सूर्य से ही सूर्य की प्रतीत हो जाया करती अथवा चन्द्र से ही चन्द्र का भान हुआ करता किंवा दीपक और अग्नि से ही दीपक और अग्नि देख लिये जाया करते तो हम इन्हें निःशंक होकर स्वयंप्रकाश कह देते। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। हम देखते हैं सूर्य चन्द्र आदि प्रकाश इस चेतनात्मा से प्रेरित हुई इन आँखों से दीखते हैं। इससे यही निर्णय होता है कि इस सकलेन्द्रियव्यापार में रूपरसादि के प्रकाशक चक्षुरादि देवों का जो एक विचित्र तेज है वह यह आत्मज्योति किंवा स्वयंप्रकाश पुरुष ही है (जो जागरण तथा स्वप्न में समानरूप से स्वयंप्रकाश रहता है । उसे अपने प्रकाश के लिये दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं है)।

वेद में कहा है—चित्रं देवाना मुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य

वरुणस्याम्भेः । आप्राद्यावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्त-
स्युपश्च । इस गतिशील तथा स्थावर दोनों प्रकारके जगत् का प्रकाशक
यथार्थ में आत्मा ही है (सूर्यादि नहीं । वह ही इन सूर्यादि को भी
प्रकाशित किया करता है) । (नेत्र के अधिदेवता) सूर्य का (रस
के ग्राहक) वर्णण का, तथा (वाणी की अधिदेवता) अग्नि का चक्षु
(अर्थात् प्रकाशक) भी तो यह आत्मा ही है (वयोंकि आत्मप्रकाश के
विना सूर्यादि की प्रतीति किसी को नहीं होती । सभी को पहले अपने
आत्मा की 'मैं हूँ' इस रूप में प्रतीति हो चुकती है तब उसे अन्य
सूर्यादि पदार्थ प्रतीत हुआ करते हैं । तभी तो कहा है 'तमेव भान्त-
मनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' । इसके प्रमाण
के रूप में अपना अपना अनुभव ही प्रत्येक को देखना चाहिये) जागरण
होते ही चक्षु आदि देवों की सेना में विच्चित्ररूप से एक अद्भुत ज्योति
का संचार होता है । (तात्पर्य यह है कि ये लौकिक सूर्य चन्द्र तथा
अग्नि आदि प्रकाश, रूप रस गन्ध स्पर्श तथा शब्द इन पांच विषयों
में से केवल रूप को ही ग्रहण कर सकते हैं । पाँचों विषयों को ग्रहण
करने का सामर्थ्य इन में नहीं है । इन पाँचों को ग्रहण करने का
सामर्थ्य तो इन सब वृत्तियों के प्रवर्तक आत्मा में ही है और किसी
में नहीं) यों देह में बद्ध सा दीखता हुआ जो एक अध्यात्मस्वरूप
परमात्मा नाम का तत्त्व है, उसीने क्या बुलोक, क्या पृथिवी लोक, क्या
अन्तरिक्ष लोक, सभी को अपने आत्मतेज से परिपूर्ण कर रखा है ।
वह तेज सर्वात्मा होकर इस जगत् में निवास कर रहा है ।

(प्राण अपान और व्यान वायु शरीर के अन्दर अपना अपना काम कर
रहे हैं । आप कुछ भी नहीं करते हो । आप तो केवल एक भूल
करते हो कि इनके कामों को अपना मान बैठते हो)

प्राणेनाम्भासि भूयः पिवति पुनरसावन्मक्षाति तत्र
तत्पाकं जाठरोग्नि स्तदुपहितवलो द्राकृष्णनैर्वा करोति ।

व्यानः सर्वाङ्गनाडीप्यथ नयति रसं प्राणसन्तर्पणार्थ-
निःसारं पूर्तिगन्धं त्यजति वहिरयं देहतोऽपानसंज्ञः ॥८८॥

देखते हैं कि वह जीव प्राण के सहरे से बार बार जल पीता और अन्न खाता है । उस प्राणलभी पर्खे ही से सुलगाया हुआ उदरास्ति प्राण के प्रयत्न के अनुसार ही जल्दी या दीप्ति उन पिये अथवा खाये पदार्थों को पचा देता है । पचनक्रिया के समाप्त हो जाने पर पके हुए अन्न तथा जल के सारभाग रस को, व्यान नाम का वायु, शरीरस्य सम्पूर्ण प्राणों (इन्द्रियों) का संतर्पण करने के लिये, शरीर की सम्पूर्ण नाडियों में बाँट देता है । शरीर में रहने वाले अपानवायु का काम यह है कि वह शेष रहे हुए निःसार दुर्गन्धयुक्त अन्न और जल के भाग को (मूत्र तथा विष्टा के रूप में) देह से बाहर निकाल देता है ।

(ऊपर के श्लोक में कहा हुआ प्राणादि व्यापार उनका स्वतन्त्र व्यापार नहीं है यह सब आत्मा [आप] के अधीन [मातहत] है)

व्यापारं देहसंस्थः प्रतिवपुरखिलं पञ्चवृत्यात्मकोसौ
प्राणः सर्वेन्द्रियाणाभधिपतिरनिशं सत्तया निर्विवादस् ।
यस्येत्थं चिद्वनस्य स्फुटमिह कुरुते सोस्मि सर्वस्य साक्षी,
प्राणस्य प्राण एषोऽप्यखिलतनुभृतां चक्षुपञ्चक्षुरेपः ॥८९॥

(जो प्राण अपान आदि गौणप्राणों को अपनी सत्ता और प्रकाश का दान देकर जीवित कर रहा है, उस साक्षी सचिदानन्द आत्मा की ओर ध्यान दो) इस हमारे देह में प्राणन आदि पाँच वृत्तियों वाला यह देहस्य प्राण, जो कि सम्पूर्ण इन्द्रियों का अधिपति है (जिसके बिना सम्पूर्ण इन्द्रियों के व्यापार बन्द हो जाते हैं) ऐसा यह प्राण, सम्पूर्ण शरीरों में, यड़े ही स्पष्टरूप से, जिसकी सत्ता की सहायता से, निर्विवादरूप से अपने सम्पूर्ण व्यापारों को किया करता है, वह सबका साक्षी आत्मा मैं ही तो हूँ । मैं सम्पूर्ण व्यष्टि और समष्टि जीवों के प्राणों का भी प्राण

हूँ और चक्षुओं का भी चक्षु हूँ ।, प्राणस्य प्राणमुत्तचक्षुपश्चक्षुः
द्वृ ४-४-१८।

(वह जब चमक उठता है तब संसार के सम्पूर्ण सूर्यादि पदार्थ दिमन
दिमाने लगते हैं । अपना शामिल वाजा बजाने लगते हैं ।

इन क्षुद्र प्रकाशों में उसे प्रकाशित करने का
सामर्थ्य नहीं है)

यं भान्तं चिद्वनैकं क्षितिजलपवनादित्यचन्द्रादयो ये ।
भासा तस्यैव चानुप्रविरलगतयो भान्ति तस्मिन् वसन्ति ।
विद्यत्पुञ्जोऽग्निसङ्घोऽप्युद्गणवितति भासयेत् क परेण,
ज्योतिःशान्तं ह्यनन्तं कविमजमरं शाश्वतं जन्मशून्यम् ॥९०॥

पृथक् पृथक् स्वस्य तथा पृथक् पृथक् गति वाले ये पृथिवी, जल,
वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा वागादि इन्द्रियें, उसी चैतन्यघन एक
आत्मा के प्रकाश के पश्चात् प्रकाशित हुआ करते हैं और उसी स्वप्रकाश
सदात्मा में निवास करते हैं (उसी की सत्ता को पाकर अपने अपने
व्यांपार करने में समर्थ हो गये हैं) फिर वहाओं कि ऐसे उस सकल
जगत् के कारण, प्रकृति के नियामक (जगत् की वासना से अस्पृष्ट
होने के कारण) शान्त (नाथ से सर्वभां रहित होने के कारण) अनन्त
(वेदयोनि होने के कारण सर्वज्ञ) कवि, जन्म से रहित, मरण से वर्जित
(जिसको जन्ममरणहीन माने विना जन्ममरण की सिद्धि हो ही नहीं
सकती । यदि कोई ऐसा जन्ममरणहीन तत्त्व न हो, तो वहाओं कि ये जन्म
और मरण किसके हों) शाश्वत कहने वाले, सर्वप्रकाशक आत्मदेव को
क्या भला यह तुच्छ विद्यरुञ्ज प्रकाशित करेगा । क्या यह क्षुद्र अग्नि
की ज्वाला उस सर्वप्रकाशक को दिखा सकेगी । क्या इन दिमाते
हुए नक्षत्रों की पंक्ति किंवा सूर्यादि उस सर्वप्रकाशक को प्रकाशित करेगे ।
(ओह ! यह सब असम्भव है । ये आसंभव, वातैं कभी नहीं हो सकेंगी ।)

(वैसा दिव्य आत्मानुभव जब किसी को होता है तब अनादि उपाधि हट जाती है । वह जीवन्मुक्त हो जाता है और आनन्दधाम में सदा के लिये निवास कर लेता है)

तद्ब्रह्मैवाहमसीत्यनुभव उदितो यस्य कस्यापि चेद्वै
पुंसः श्रीसद्गुरुणा मतुलितकरुणापूर्णपीयूषदृष्ट्या ।
जीवन्मुक्तः स एव अमविधुरमना निर्गतेऽनाद्युपाधौ,
नित्यानन्दैकधाम प्रविशति परमं नष्टसंदेहवृत्तिः ॥९१॥

जिस किसी भी पुरुष (किंवा स्त्री) के मन में अपने सद्गुरु की निरूपम दया से परिपूर्ण अमृतमयी दृष्टि अर्थात् ज्ञान (अर्थात् ब्रह्मविद्या नामक जागरण) के प्रभाव से वह महानिश्चयरूपी सूर्य उदय हो जाय कि (इस विषयपङ्क्ति ल संसार में 'मैं' 'मैं' करके मरनेवाला) मैं तो वर्थार्थ में वह अनन्त ब्रह्मतत्त्व ही हूँ, वह वही जीवन्मुक्त कहाता है । उसके मन में से विपरीतज्ञानरूपी चमगादङ्ग निकलकर भाग जाते हैं । उसके मन के संदेहरूपी उल्क सर्वथा उड़ जाते हैं (उसका वह मन प्रारब्धयात्रा तक जैसे तैसे इस प्रकार साथ देता रहता है जैसे अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से दग्ध हुआ अर्जुन का रथ श्रीकृष्ण के संकल्प से अर्जुन को रणक्षेत्र में से घर तक पहुँचाने में समर्थ हुआ था । वह महानिश्चयी पुरुष जीवन्मुक्ति के महासुख को भोगने लगता है । जिस प्रकार अर्जुन का रथ श्रीकृष्ण के उत्तरते ही सहसा भस्त्र हो गया था इसी प्रकार विराट् के प्रारब्धनामक संकल्प के समाप्त होते ही) वह जीवन्मुक्त पुरुष मायानामक अनादि उपाधि के विलीन हो जाने पर, नित्यानन्दस्वरूप अपूर्व तेज में ग्रवेश कर जाता है ।

(वे जीवन्मुक्त लोग अपने प्रारब्धों को भोगते हुए भी आत्मसुख का अनुभव करते रहते हैं)

नो देहो नेन्द्रियाणि क्षरमतिच्चपलं नो मनो नैव बुद्धिः
प्राणो नैवाहमसी त्यरिलजडमिदं वस्तुजातं कर्थं स्याम् ।

नाहंकारो न दारा गृहसुतसुजनक्षेत्रवित्तादिदूरं,
साक्षी चित्प्रत्यगात्मा निरिलजगदधिष्ठानभूतः शिवोहम् ९२

जीवन्मुक्त लोग यह समझते हैं कि यह स्थूलशरीर मैं नहीं हूँ (वे समझते हैं कि मैं तो एक त्रिकालावाधित चिद्रूप पदार्थ हूँ । इस विचार के आते ही उन्हें वर्णाश्रमादि का विचार भी भूल जाता है । वर्णाश्रमाभिमान के कारण उन पर शासन करने वाला शाल उनके इस विचार के सामने कर्तव्यमूद्र होकर खड़ा हो जाता है । वह समझ लेता है कि यह अब मेरा कहा न करेगा । मैं अब इस अध्यासहीन को [ब्राह्मण या धनिय या वैद्य या ब्रह्मचारी या गृहस्थ या वनी या संन्यासी आदि] क्या कहूँकर किसी काम में लगाऊँगा ? यों शाल का शासन जीवन्मुक्तों पर नहीं रहता) वे जीवन्मुक्त लोग यह सोचा करते हैं कि ज्ञान तथा कर्म के साधन ये दशों इन्द्रियें भी मैं नहीं हूँ । यह क्षर और अति चपल मन भी मैं नहीं हूँ । मैं यह क्षणिक बुद्धि भी कैसे बन दें ? पाँच वृत्तियोंवाला यह प्राण भी मैं नहीं हूँ । (जो मैं कृष्ण आत्मा इन सम्पूर्ण देह इन्द्रिय आदि जड पदार्थों को प्रकाशित किया करता हूँ वह कृष्ण सच्चिदानन्द) मैं इनमें से कोई सा या सब कुछ कैसे हो जाऊँ ? मैं अपने आपको अहंकार भी कैसे मान दूँ ? मैं तो ली, पुत्र, समन्धी, वान्धव, मित्र, भृत्य, घर, भूमि, धर्मशर्यादि से दूर (पृथक्=अद्वृता) रहने वाला तत्व हूँ । तथ्य वात तो यह है कि मैं तो इन देहादि जड पदार्थों का साक्षी हूँ अर्थात् इन सबके अल्पन्त समीप रहकर इन्हें प्रकाशित किया करता हूँ । (इनको प्रकाशित करने के कारण ही) मुझे चित् अर्थात् ज्ञानरूप कहा जाता है (सर्वान्तर और स्वयंप्रकाश होने से तथा सबके अन्दर व्याप्त रहने से) मुझे प्रत्यगात्मा कहते हैं । जिसके बिना समस्तजगदारोप का अधिष्ठान मायाशब्द ब्रह्म भी सिद्ध नहीं हो सकते, इसीसे जिस मुझे ही इस सम्पूर्ण विश्व का मूलधिष्ठान बताया जाता है, ऐसा एक शिवरूप तत्व मैं हूँ ।

ऐसी विचारपरम्परा जब जीवन्मुक्त के हृदय में स्वभाव से उत्पन्न होने लगती है तब फिर उससे संसार के व्यापार नहीं चलते। उसे सांसारिक कारभार छोड़ने पड़ जाते हैं। फिर वह सदा ही आत्मस्वरूप का सरण करता रहता है।

(इन्द्रिय, मन, बुद्धि देखते भी हैं और दीखते भी हैं। परन्तु यह आत्मा तो देखता ही देखता नहीं, दीखता नहीं)

दृश्यं यद्रूपमेतद्भवति च विशदं नीलपीताद्यनेकं,
सर्वस्यैतत्स्य दृग्वै स्फुरदनुभवतो लोचनं चैकरूपम् ।
तदृदृश्यं मानसं दृक्, परिणतविषयाकारधीवृत्तयोऽपि
दृश्या, दृग्रूप एव प्रभुरिह स तथा दृश्यते नैव साक्षी ॥९३॥

यह जो संसार में नीले पीले आदि नानाविधि दृश्यरूप दीख रहे हैं इन सब अनेकविधि रूपों को देखने वाली आँख, सबके प्रत्यक्ष अनुभव से अकेली (एक रूप की) ही होती है (अर्थात् द्रष्टा चक्षु एक है दीखने वाले दृश्यरूप अनेक हैं।) वह लोचन भी कभी दृश्य हो जाता है क्योंकि उसका भी द्रष्टा मन है। वह मन भी जब दृश्य हो जाता है तब निश्चयात्मिका बुद्धि उसकी द्रष्ट्री होती है। विषयाकार में परिणत हुई वे बुद्धिवृत्तियाँ भी अनेक तथा विकारी होने से दृश्य ही हैं (इन सभी को जड़, और विकारी होने से अनात्मा जानना चाहिये) इस सम्पूर्ण जडमण्डल में जो एक प्रभु अर्थात् सब को प्रकाश करने के सामर्थ्य वाला है, जो इन समस्त जडवर्ग का साक्षी आत्मा है, वह तो सदा दृग्रूप ही रहता है। वह इन्द्रिय मन तथा बुद्धि के समान दृश्य कभी नहीं हो जाता। वह कभी किसी को दीखता नहीं।

सबका प्रकाशक होने से ही वह दृश्यों के समान अनुभव का विषय कभी नहीं होता है। वह सदा अपने द्रष्टा रूप में ही रहता है। यदि वह अनुभव का विषय हो जाय तो उसका साक्षीपन जाता रहेगा।

(रस्सी को न पहचानो तो उसका सांप वन जाता है। आत्मा को न पहचानो तो उसका जीव वन जाता है। रस्सी को पहचान जाको तो सांप मर जाता है। आत्मा को पहचान जाको तो जीवभाव मर जाता है)

रज्जुभज्जानाद्वुजङ्गं स्तदुपरि सहसा भाति मन्दान्धकारे,
स्वात्मांज्ञानात्थासौ भृशमसुखमभृदात्मनौ जीवभावः ।
आसोकत्या हि भ्रमान्ते स च खलु विदिता रज्जुरेका तथाहं,
कृदस्यो नैव जीवो निजगुरुवचसा साक्षिभूतः शिथोहम् ॥९४॥

जिन प्रकार मन्द अँधेरे के समय अज्ञात रज्जु में (अकस्मात्, वृथा ही) 'मार' की प्रतीति होने लगती है। ठीक इसी प्रकार जब किनी को आत्मा का अज्ञान हो गया हो (जब कोई अपने आत्मरूप को न देखता हो) तब उसी अज्ञात आत्मा में सब अज्ञानियों के अनुभव में आने वाला वह महादुःखदायी, आत्मसम्बन्धी जीवभाव प्रतीत होने लग पड़ता है। (परन्तु वह भी एक भ्रान्ति ही है) जब किसी प्रामाणिक पुरुष के कहने ने किनी का सर्पभ्रम-निवृत्त हो जाय तब वह पहला सर्प ही तत्त्वज्ञान होने पर एक जासी हुंदरस्सी हो जाती है। ठीक इसी प्रकार अपने आत्मदद्यों 'गुरु' के उपदेश से जब किसी का जीवत्त्वरूपी भ्रम निवृत्त हो जाता है तब उसे यह शात होता है कि—मैं जीव नहीं हूँ (मैं सुखी हुँसी होने वाला, जीने मरने वाला, कर्ता या भोक्ता कहाने वाला, कुछ भी नहीं हूँ) मैं तो शथाकथंचित् इस जीव का साक्षी कहा सकता हूँ। परन्तु मैं तत्त्वदृष्टि से तो एक कृदस्य निर्विकार शिव किंवा आनन्दरूप ही हूँ ।

(कहने को तो सूर्य आदि वंहुतसी ज्योतिर्याँ संसार में हैं। परन्तु स्वतन्त्र ज्योति या मूल ज्योति तो आत्मा ही है)।

किं ज्योतिस्ते वदस्वाहनि रविरिह में चन्द्रदीपादि रात्रौ
स्यादेवं भालुदीपादिकपरिकलने किं तव ज्योतिरस्ति ।

चक्षुस्तन्मीलने किं भवाति च सुतरां धी धियः किं प्रकाशे,
तत्रैवाहं ततस्त्वं तदसि परमकं ज्योतिरसि प्रभोहम् ॥९५॥

हे मुमुक्षु ! वताओ तो सही कि तुम्हारे पास दिन में घटपटादि व्यवहार करने का साधन कौनसी ज्योति होती है ? यदि कहो कि सूर्य है तो यह वताओ कि रात्रि में जब सूर्य नहीं रहता तब व्यवहार का साधन कौनसी ज्योति रह जाती है ? यदि कहो कि उस समय चन्द्रमा तथा दीपादि ज्योतियाँ होती हैं तो यह वताओ कि सूर्य तथा दीपादि को तुम किस चीज़ से देखते हो ? यदि कहो कि चक्षु से तो यह वताओ कि आँख बन्द कर लेने पर तुम्हारे पास कौनसी ज्योति रह जाती है ? यदि कहो कि (आँख मींच लेने पर भी) बुद्धिरूपी ज्योति तब भी रहती ही है तो यह वताओ कि उस बुद्धिरूप ज्योति को प्रकाशित करने वाली कौनसी ज्योति तुम्हारे पास है ? इसका उत्तर मुमुक्षु ने यों दिया है कि श्रीगुरो ! उस समय तो उस बुद्धिरूप प्रकाश का व्यवहार कराने वाली ज्योति 'मैं' ही होता हूँ (वह बुद्धि मेरे ही सहारे से तो प्रकाशित होती है । मेरे सिवाय कोई दूसरा प्रकाशक इस समय मुझे नहीं प्रतीत होता । यह काम उस समय मैं स्वयं किया करता हूँ) इस उत्तर से सन्तुष्ट होकर गुरु ने कहा कि हे शिष्य ! हमारे प्रश्नों से तुम अभीष्ट स्थान तक पहुँच गये हो तुम आत्मतत्त्व को पहचान गये हो, देखो ! तुम्हारे सिवाय कोई भी अन्य मूल प्रकाश इस संसार में नहीं है (तुम स्वयंज्योतिःस्वरूप होकर प्रकाशित हो रहे हो) इससे तुम यह निर्णय कर लो कि कार्यकारण तथा प्रकाशय प्रकाशकत्वादि से असंपृक्त रहने वाली वह परमज्योति ही तुम हो (तुम अपने आपको कभी क्षुद्र प्राणी मत समझा करो । देखो सूर्य को आँख दिखाती है, आँख को बुद्धि दिखाती है, उस सकलभासक बुद्धि को भी प्रकाश का दान करने वाले तुम्हीं तो हो । यदि तुम इस संसार को प्रकाश का दान

करना चन्द कर दो तो वह संसार घनान्धकार से परिपूर्ण हो जाय और यहाँ ही यिलीन हो जाय । देखते नहीं हो कि तुम्हरे सोते ही यह संसार कैसा न्ळान हो जाता है । तुम अपने इस महासामर्थ्य की ज़रा विचारों तो नहीं । यह ऐसी निष्ठा स्थिति है कि सकल जगत् को प्रकाशित करने वाले तुम अपने इन महामहिम रूप को भूलकर इन प्रकाश्य पदार्थों के गृथा गोद में पड़े हो ।) इन उद्घोधनों को सुनकर उस मुसुक्षु सचित्प्रय को लहरा आत्मलरण हो आया । वह अकस्मात् हयोऽकुल्ल होकर अपने गद्युक्त क्षे कहने लगा कि हे प्रभो ! मुझे अब ज्ञान होगया, कि इस संसाररूपी अन्धगृह का प्रदीप मैं ही तो हूँ । (मैं तो एक अखण्ड जलने वाला दीपक हूँ । मुझे किसी प्रकाश्य पदार्थ की आवश्यकता नहीं है । आपके प्रश्नों ने मेरे अंशान की जड़ें ही उखाइकर फेंक दी हैं । यही अभिप्राय वृहदारण्यक ४-३-६ में विस्तार से कहा गया है ।)

(मुक्ति का नाम मुनकर घवराओ नहीं। मुक्ति बहुत सीधी वस्तु है उधर आत्मज्ञान हुआ कि उधर मुक्ति हुई)

कन्त्रित्कालं स्थितः कौ पुनरिह भजते नैव देहादिसंघं,
यावत्प्रारब्धभोगं कथमपि ससुखं चेष्टतेऽसंगवुद्धया ।
निर्द्वन्द्वो नित्यगुद्धो विगलितममताहंकृति नित्यतृसो,
ब्रह्मानन्दखरूपः स्थिरमतिरचलो निर्गताशेषमोहः ॥९६॥

उस जीवन्मुक्त महात्मा का अधिकारी देह (जिस देह के अनन्तर दूसरा देह नहीं मिलता, जिसके पश्चात् मुक्ति हो जाती है वह 'अधिकारी देह' कहाता है) जब तक वना रहता है तब तक कुछ काल के लिये वह महात्मा इस स्थूल शरीर के सहारे से इस पृथिवी पर ठहरा तो रहता है, परन्तु वह पहले के समान इस स्थूलदेहादि को मैं या मेरा नहीं मानता । किर तो वह इस पृथिवी पर तथा इस देहादिसंघ के साथ प्रारब्धभोग की समाप्ति तक असंगवुद्धि की सहायता से न जाने किस तरह, वहे

आनन्द से व्यापार करता हुआ प्रतीत होता है। उसे किसी तुखदुःखादि द्वन्द्व की वाधा नहीं रहती। वह सदा ही शुद्ध वना रहता है (संसारी जीव जिस प्रकार पुण्य करके कभी कभी शुद्ध हो जाते हैं वैसी कभी कभी होने वाली शुद्धि उस में नहीं होती। ब्रह्म से अभिन्न होते ही वह ज्ञानी तीनों कालों में पुण्य पाप से रहित होने से नित्यशुद्ध हो गया होता है।) उसकी पुत्रादि में ममता और शरीरादि में अहन्ता इस प्रकार नष्ट हो जाती है कि फिर कभी उत्तम ही नहीं हो पाती। उसकी ममता और अहन्ता का बीज नाश शी हो जाता है। इसी कारण से उस महात्मा को निर्वाध सन्तोष की प्राप्ति होती है। क्योंकि वह स्वयं ब्रह्मानन्दस्वरूप हो जाता है (वह फिर अपरिच्छिन्न [अखण्डित] आनन्द को ही अपना रूप मान लेता है)। उसकी शुद्धि स्थिर ब्रह्म में निवास करने लगती है। स्वयं ब्रह्मरूप हो जाने से वह अचल हो जाता है। क्योंकि उसके समस्त विपरीत ज्ञान ही नहीं किन्तु उसका मूलज्ञान भी समूल नष्ट हो जाता है।

ऐसे निरीह तथा पूर्ण लोग भी जब इस शरीर से चेष्टा करते हैं, तो इसका कोई भी कारण समझ में नहीं आता। उनकी चेष्टाओं ने किस फल को उद्देश बनाया है, यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इसी से ज्ञानियों की चेष्टाओं को माया से उत्तम हुआ मानते हैं। जिस प्रकार जड़ चुम्बक को देखकर जड़ लोहा उसकी ओर को सरक जाता है, अथवा जिस प्रकार जड़ बीज, भूमि तथा जल को देखकर अंकुर निकाल देते हैं, सूखी पृथिवी जिस प्रकार पानी को निगल लेती है, चन्द्रपाद का स्पर्श पाते ही जैसे कैरव कुल में विकास हो जाता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानी का शरीर, शरीर के उपयोगी आहारों किंवा भोगों की तरफ़ को प्रकृति की प्रेरणा से स्वतः ही प्रवृत्त हो जाता है। उसको उन प्रेरणाओं में इन चुम्बक आदि की तरह किसी प्रकार का अभिमान शेष नहीं रहता।

(ज्ञानी लोगों के कर्मों से उनके न चाहने पर भी आगामी संसार
जन जाता है । ज्ञानी लोग कर्म तो कर जाते हैं परन्तु वे लोग
ज्ञान की नहिं से आगामी संसार को बनने नहीं देते)

जीवात्मब्रह्मभेदं दलयति सहसा यत् प्रकाशेकरूपं,
विज्ञानं तज्ज शुद्धौ समुदितमतुलं यस्य पुंसः पवित्रम् ।
माया तेनेव तस्य क्षयमुपगमिता संसृतेः कारणं या,
नष्टा सा कार्यकर्त्री पुनरपि भविता नैव विज्ञानमात्रात् ॥९७॥

येदान्मा के भावान्वयों को गुरुभूषण के द्वारा श्रवण करके भनन करने पर जो प्रकाशद्वयन्तर आभासान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान उत्पन्न होते ही जीवात्मा और पगान्मा के काल्पनिक भेद को मूलज्ञान के सहित सहसा मार छोड़ता है । ऐसा पवित्र ज्ञान जिस किसी अधिकारी के शुद्ध अन्तः-करण में उदय हो गया हो, तो उस पुरुष की संसार को उत्पन्न करने वाली माया अकेले उसी ज्ञान से नष्ट हो जाती है । (ज्ञान के अतिरिक्त कोई दूसरा नाभ्यन उस माया के नाम के लिये अपेक्षित नहीं होता) आभासगमात्र समझ लेने से ही अदृश्य हुई वह माया, फिर कभी भी भ्रम-कर्त्ता कार्य किया संसार को उत्पन्न नहीं कर सकती ।

तात्पर्य यह है कि जब उस ज्ञानी ने उस माया को आभास समझ लिया तब फिर जाहे उसका शरीर चेष्टा भी करता रहे, उसकी कर्तृत्वा-भिमानशृङ्खला चेष्टाओं से, भुने हुए वीज से जैसे कोई अंकुर नहीं उगता इसी प्रकार आगामी संसार की उत्पत्ति कभी नहीं होती ।

(ज्ञानी लोग, पानी पिये हुए निकम्मे नारियल की तरह दीख पड़ने वाले, इस निकम्मे संसार को दूर फेंककर मारते हैं । वे इसे निःसार समझकर ज्ञान्त खड़े हो जाते हैं)

विश्वं नेति प्रमाणाद्विग्निलितजगदाकारभानस्त्यजेद्वै,
पीत्वा यद्वक्तलाम्भ स्त्यजति च सुतरां तत्फलं सौरभाद्यम् ।

सम्यक् सच्चिद्वैकामृतसुखकवलास्वादपूर्णे हृदासौ,
ज्ञात्वा निःसारमेवं जगदरिविलभिदं स्वप्रभः शान्तचित्तः॥९८॥

('नेहनानास्ति किंचन' यहाँ नाना कहा सकने वाला सत्य तत्त्व कोई भी नहीं है इत्यादि) प्रमाणों से यह समझ लेने पर, कि—यह दीखने वाला संसार (इस रूप से) सत्य नहीं है, ज्ञानी लोगों का यह जगदाभास सदा के लिये विलीन हो जाता है (वे महात्मा लोग फिर इस जगत् को इस प्रकार छोड़ देते हैं, जिस प्रकार किसी नारियल आदि सुगन्धित फल के रस को पीकर कोई उसे फेंक देता हो (फिर वाहे वह दूसरे लोगों को कितना ही सुगन्धित क्यों न दीखता हो) वे फिर निर्विघ्न होकर जो एकमात्र चिद्वन (चैतन्य से परिपूर्ण) अमृतसुख है, उसी के ग्रासों का आस्वाद (अनुभव) ले लेकर, हृदय से पूर्ण किंवा नित्य तृत हो जाते हैं । (इस अमरसुख का भोग करते ही उनका दृष्टिकोण बदल जाता है) उन्हें यह समस्त संसार अतीव निःसार प्रतीत होने लगता है । वे इसको न तो सत्य ही समझते हैं और न उन्हें इसमें कुछ सुख ही दीख पड़ता है । ऐसा दिव्यानुभव होते ही वे फिर स्वयंप्रकाश ही हो जाते हैं । उनका चित्त शान्त हो जाता है । (भुने हुए बीज के समान जगदंकुर निकालने का सामर्थ्य उनके चित्त में फिर नहीं रह जाता ।)

(उस परेश का दर्शन जब कोई कर लेता है तब किसी भी तरह के कर्म नहीं रहते । क्योंकि उसकी हृदय की गाँठ खुल जाती है । वह फिर अपने व्यापक रूप को क्षण भर के लिये भी नहीं भूलता ।
वह हमारी तरह हृदय में आबद्ध रहना भूल जाता है ।
इसी से जन्ममरण दिलाने वाले संशय दूक दूक
हो जाते हैं)

क्षीयन्ते चास्य कर्माण्यपि खलु हृदयग्रन्थिरुद्धिद्यते वै
छिद्यन्ते संशया ये जनिमृतिफलदा दृष्टमात्रे परेशो ।

तस्मिथिन्सात्ररूपे गुणमलरहिते तत्त्वमस्यादिलक्ष्ये
कूटस्ये प्रत्यगात्मन्यखिलविधिमनोगोचरे ब्रह्मणीशे ॥९९॥

सम्पूर्ण वेदान्त वडे गौरव से जिसका प्रतिपादन कर रहे हैं, जो चिन्मात्र स्वरूप हैं (जिसमें चेत्य पदार्थों का निशान भी नहीं रहा है) गुणों से उत्पन्न हुए, रागद्वेषादिमलों से अथवा वन्ध कराने वाले गुणरूपी मलों से, जो सर्वथा विहीन है, तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से जिसे केवल लक्षणावृत्ति से यथाकथंचित् जान सकते हैं (जिसका साक्षात् प्रतिपादन करते हुए तो वेद भी गूणों की तरह मौन हो जाते हैं) जो एक अमर्याद ईश्वर है, सम्पूर्ण विधिवाक्य तथा सकल मन जिसको विषय नहीं कर सकते, जो सदा कूटस्य (किंवा निविंकार) बना रहता है (अपनी वृत्ति को अन्तर्मुख करने पर ज्योंही अज्ञान हटता है त्योंही जो स्वयं प्रकाशित हो जाता है, वृत्ति को अन्तर्मुख करने के अतिरिक्त और कुछ भी प्रयत्न जिसके दर्शन के लिये करना नहीं पड़ता, इसी से) जिसको प्रत्यगात्मा (सुखअन्दर होते ही दीख पड़ने वाला आत्मा) कहा जाता है, ऐसे उस परेश के अनुभव में आते ही इस बड़भागी जीव के संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण नाम के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि इस ज्ञानी की हृदयग्रन्थि (अर्थात् अन्तःकरण के प्रकाशक आत्मा की स्वरूपाज्ञानरूपी ग्रन्थि, जिसको अन्योन्यतादात्म्य तथा एक्याध्यास भी कहते हैं, जिसमें कि कर्म उलझे रहते हैं) सहसा खुल जाती है। (उसे अन्तःकरण तथा चिदात्मा के भेद का ज्ञान अनुभव के नेत्रों से हो जाता है। कोरे द्वास्त्रीय ज्ञान से किसी की हृदय की ग्रन्थि खुला नहीं करती) तब अज्ञानग्रन्थि से उत्पन्न हुए जन्ममरण दिलाने वाले सम्पूर्ण संशय (कि इस देह से आत्मा भिन्न है या नहीं? भिन्न होने पर भी ब्रह्म के साथ अभेद है या नहीं? अभेद होने पर भी जीवन्मुक्ति मिलेगी या नहीं? जीवन्मुक्ति के पश्चात् विदेहमुक्ति का लाभ होगा या नहीं?) नष्ट हो

जाते हैं । (संशय के निवृत्त होते ही व्रहशान का फल जन्ममरण की निवृत्ति के रूप में ज्ञानियों को प्राप्त हो जाता है ।)

(असंगतारूपी तलबार से इस संसाररूपी वृक्ष को काटकर फेंक दो
और जब तक संसार की वासनायें न हट जायें तब तक
वासुदेव का लगातार ही चिन्तन किया करो)

आदौ मध्ये तथान्ते जनिमृतिफलदं कर्मभूलं विशालं
ज्ञात्वा संसारवृक्षं भ्रममद्भुदिताशोकतानेकपत्रम् ।
कामक्रोधादिशरवं सुतपशुचनिताकन्यकापक्षिसंघं
छित्वाऽसंगासिनैनं पदुमतिरभितश्चिन्तयेद्वासुदेवम् ॥१००॥

जन्म तथा मृत्यु नाम के केवल दो (महादुःखदायी) फलों को उत्पन्न करने वाले, कर्मरूपी जड़ों के सहारे से खड़े हुए तथा अपना पोषण पाते हुए, भ्रम, मद, हर्ष तथा शोक आदि अनेक पत्तों तथा काम, क्रोध आदि अनेक शाखाओं से लदे हुए, पुत्र, स्त्री, कन्या, हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि पक्षियों से धिरे हुए, [इस विशाल संसार वृक्ष के क्या तुम्हें ये दोनों फल पसन्द आ गये हैं ? क्या इसके इन पत्तों और शाखाओं की दृष्टिविमोहिनी मूर्ति देखकर इसकी छाया में बैठने की आनंद इच्छा तुम्हें उत्पन्न हो गयी है ? क्या इस पेड़ पर बैठे हुए पक्षियों की सुन्दर मूर्ति देखकर तुम इन से किसी सुख की आदा वाँध बैठे हो ? किंवा इन चञ्चल पक्षियों का तुम्हें कुछ विश्वास हो गया है ? यदि नहीं तो] इस संसाररूपी विशाल वृक्ष को आदि मध्य तथा अन्त में पहचान लो (यदि इसे केवल मध्य में विचारोगे तो धोखे में फँस जाओगे । इस लिये इसे तीनों स्थानों पर पहचानो कि उत्पत्ति से प्रथम भी यह नहीं था, नाश के पश्चात् यह कुछ भी न रहेगा । केवल मध्य में कुछ काल के लिये स्वभ के समान तुम्हें प्रतीत हो रहा है, ऐसा दृढ़ानुभव करके) चतुरमतिवाले पुरुष को उचित है कि (अत्यन्त दुःखदायी होने से काटकर

ये ह देवे शोण) इस नंतरहीनी तुक को असंगताल्ली लझ की सहायता में (अर्थात् अपने आत्मा को इस नंतर में पृथक् जानकर) काटकर फेंक दे तथा यदा ही अपने ज्ञानक आत्मा का अनुभव किया करे (जिसने कि इस नमन संगताल्ली ना ज्ञानि मध्य तथा अन्त में व्याप्त कर रखा है, जो इस नंतर को उत्तरि में प्रगम भी था, जो इस संसार के नष्ट हो जाने के प्रधान भी था वह जायगा, जो इसके मध्यकाल में भी वैसा ही अन्तर्ण दमा हुआ है) यो यदा अपनी गृहि को आत्माकार बनाये रखें ।

(प्राणीभवि को पहचानने वाले अपने आत्मा को नमस्कार)

जातं मन्येव सर्वं पुनरपि मयि तत्संस्थितं चैव विश्वं
सर्वं मन्येव याति प्रविलयमिति तद् ब्रह्म चैवाहमसि ।
यस्य स्मृत्या च यज्ञाद्यखिलशुभविधो सुप्रयातीह कार्यं
न्यूनं सम्पूर्णतां वै तमहमतिमुदैवाच्युतं सन्नतोसि ॥१०॥

ओह ! यह जगत् तो मेरे इन शुद्ध रूप में से उत्तम हो गया है लगता है। जाने के पश्चात् भी वह मुझ में ही भले प्रकार स्थित हो रहा है। प्रदर होते गमन वह मुझमें ही विलीन हो जाया करता है (निद्रा तथा प्रलय के समय इस जगत् का मुझ में सर्वीज प्रलय हो जाता है, जान हो जाने पर तो वह गमन जगत् मुझ शुद्ध में निर्विजि विलीन हो जाना है) यो इस उमस्ति विश्व की उत्तरि स्थिति तथा प्रलय का एकमात्र आधार जो पञ्चात्मा नामक परम तत्त्व है वह में ही तो हूँ। जिस मुझ ब्रह्मात्मा को न्मरण कर लेने मात्र से यज्ञादि सम्पूर्ण शुभ कर्मों की न्यूनतां शूर्ण हो जाती हैं, अब मैं अपने उसी अच्युत आत्मा को (जो कर्मी अपने स्वरूप और सामर्थ्य से च्युत नहीं होता) ब्रह्मानन्दवर्धिनी अन्तर्णुब्रह्मात्माकारवृत्ति के द्वारा वही भारी प्रसन्नता के साथ केवल प्रणाम ही करता हूँ। (अपने आत्मदेव को ऐसा प्रणाम करना चाहिये कि किर कर्मी भी अपने अहंकार के सिर को ऊपर न उठाने दिया जाय ।)

श्रीमच्छद्वाराचार्यकृत शतश्लोकी समाप्त

लेखक की निश्चलिखित अन्य पुस्तकें—

वोधसार—राजयोग का सांगोपांग वर्णन करने वाला, उपनिषदों में जहां तहां विखरे हुए मार्मिक प्रसंगों को अत्यन्त सरल शीति से, अत्यन्त सरल भाषा में, एकत्रित करने वाला, 'नरहरि' स्वामी का अपूर्व ग्रन्थ
मूल्य २।)

शतश्लोकी—आपके हाथ में है
मूल्य ।=)

वाक्यसुधा—मैं का मुख्य अर्थ क्या है इसको समझाते और उसमें समाधि करने की विधि बताते हुए भोक्ता तक का मार्ग दिखाने वाला ग्रन्थ

योगतारावली—राजयोग में कितना हठयोग आवश्यक है उसका विशद वर्णन करते हुए रा. . के अनुकूल वातावरण का नित्र स्वीचकर दिखाने वाला ग्रन्थ

दशश्लोकी—हम जिसे 'मैं' अर्थात् आत्मा समझ रहे हैं वह कुछ भी आत्मा नहीं, यह दिखाते हुए 'मैं' के मुख्य अर्थ को अत्यन्त विशद भाषा में वर्णन करने वाला ग्रन्थ मूल्य =)

मिलने का पता:—

पं० कृष्णकुमार शर्मा

पो० रतनगढ़ जि० विजनौर

इन पुस्तकों के मिलने के दूसरे पते इसके टाइटिल पर छपे हैं।

